गांधी-विचार-दोहन

कि० घ० मशरूवाला

गांधी-विचार-दोहन

(गांधीजी की सम्मति के साथ)

कि. घ. मशरूवाला

अनुवादक

काशिनाथ त्रिवेदी

पहली आवृत्ति, १९६४

मुद्रक और प्रकाशक

नवजीवन मुद्रणालय

अहमदाबाद-३८० ०१४

फोन: ०७९-२७५४०६३५, २७५४२६३४ | ई-मेल: sales@navajivantrust.org

वैबसाइट: www.navajivantrust.org

प्रकाशक का निवेदन

स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला ने अपनी यह प्रसिद्ध पुस्तक मूल गुजराती में १९३५ में छापने के लिए नवजीवन को दी थी। इसका प्रथम संस्करण 'प्रस्थान' कार्यालय ने प्रकाशित किया था। १९३५ में इसका दूसरा संस्करण नवजीवन ने प्रकाशित किया था। पू॰ गांधीजी ने उसे आद्योपान्त पढ़कर उस पर अपनी सम्मति लिख दी थी, जो इस ग्रन्थ के उपोद्‌घात के रूप में जोड़ी गई थी। उस समय श्री किशोरलालभाई ने अपनी प्रस्तावना में पुस्तक के विषय में जो कुछ लिखा था, उसे पढ़कर पाठकों को इसके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

१९४० में गुजराती का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। उसमें लेखक ने कुछ खण्ड नये जोड़े थे। उन खण्डों को भी गांधीजी देख गये थे। १९४० में प्रकाशित हुआ तीसरा संस्करण कुछ ही वर्षों में बिक जाने से लेखक ने इसका नया संस्करण छपवाने की तैयारी शुरू की। जनवरी १९४८ में जब गांधीजी का अवसान हो गया, तो लेखक के मन में स्वाभाविक रूप में यह विचार उठा कि गांधीजी के सारे लेखों का अध्ययन कर के उनके विचारों का दोहन अंतिम रूप में प्रस्तुत किया जा सके तो ठीक हो, इसलिए अब इसी प्रकार का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य से श्री किशोरलालभाई ने अनेक मित्रों से पुस्तक में संशोधन और परिवर्धन करने के बारे में सुझाव माँगे। स्व॰ श्री नरहरिभाई परीख से उन्होंने कहा कि वे संपूर्ण पुस्तक पढ़कर उस में आवश्यक संशोधन और परिवर्धन कर दें। श्री परीखने ता. ३-४-'५० के अपने पत्र में उन्हें उत्तर दिया:

> " 'गांधी-विचार-दोहन' को इस दृष्टि से अभी मैं नहीं देख सकूँगा, क्यों कि मैंने सरदार पटेल का जीवन-चरित्र लिखना आरम्भ किया है। बीच में इस पुस्तक का काम हाथ में ले लूँ, तो जीवनचरित्र पूरा करने में विलम्ब हो जायेगा। फिर बात यह, भी है कि विचार-दोहन का काम जल्दी में और छिछली दृष्टि से करने जैसा नहीं है। अब बापूजी नहीं है, इसलिए अत्यधिक सावधानी रखकर, यथासंभव उन्हींके शब्दों में, यह दोहन किया जाये तो अच्छा हो। यह काम करते समय बापूजी

की सारी पुस्तकें तथा 'नवजीवन', 'यंग इंडिया', 'हरिजनबन्धु' और 'हरिजन' की संपूर्ण फाइलें मेरे पास रहनी चाहिए।... मेरे पास आप के भेजे हुए 'गांधी-विचार-दोहन' के अलग-अलग फार्म हैं। उनमें मैंने यहाँ-वहाँ कुछ परिवर्तन किये हैं। ये परिवर्तन देखने के लिए सारे फार्म मैं आपके पास भेज रहा हूँ। अधिक परिवर्तन मैंने प्रथम चार खण्डों में ही किये हैं। आगे के फार्मों में कहीं-कहीं थोड़ासा परिवर्तन किया है।..."

अपने सुधारों और परिवर्तनोंवाले ये फार्म श्री नरहरिभाई ने श्री किशोरलालभाई के पास भेज दिये थे। सारे फार्म देख लेने के बाद उन्होंने ता. ५-५-'५० को मुझे लिखा कि नरहरिभाई ने जो सुधार किये हैं उन्हें मैं देख गया हूँ। सुधार सब ठीक हैं। पुस्तक में अधिक सुधार करने के बारे में उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि इस विषय के दूसरे अनेक अभ्यासी जन पुस्तक को सावधानी से पढ़कर और उसे अंतिम निश्चित रूप देकर इसका प्रामाणिक संस्करण तैयार करें तो ठीक होगा। स्वयं अपने विषय में श्री किशोरलालभाई ने लिखा कि वे अब शायद ही कोई विशेष सुधार इसमें कर सकें।

इस प्रकार १९५० में इस पुस्तक का सुधारा हुआ पाठ नवजीवन को उन्होंने दिया। लेकिन इसके बाद तो सितम्बर १९५२ में लेखक का भी स्वर्गवास हो गया और पुस्तक का नया संस्करण प्रकाशित करने का काम खटाई में पड़ गया। गांधीजी के विचारों का दोहन प्रस्तुत करनेवाली यह कीमती पुस्तक लम्बे समय से पाठकों को उपलब्ध नहीं हो रही थी, यह दुःख की बात थी। इसलिए हमने सोचा कि लेखक ने अंत में देखकर पुस्तक का जो सुधारा हुआ रूप हमें सौंपा है, उसी रूप में अब उसे प्रकाशित कर देना चाहिए। इस निश्चय के अनुसार 'गांधी-विचार-दोहन' का चौथा गुजराती संस्करण अक्तूबर १९६३ में प्रकाशित हुआ।

यह संस्करण प्रकाशित करने के पहले श्री मगनभाई देसाई पुस्तक को पढ़ गये थे। स्व० किशोरलालभाई ने पुस्तक को देखकर उचित सुधार करने के लिए उनका नाम सुझाया भी था। लेकिन पुस्तक पढ़ने के बाद श्री मगनभाई देसाई ने यह मत प्रकट किया

कि स्व० किशोरलालभाई की इस पुस्तक में कुछ अदला-बदली करने या जोड़ने-घटाने की ज़रूरत नहीं है। यह किशोरलालभाई जैसे समर्थ विचारक और भाष्यकार की लेखनी से लिखा हुआ बापूजी के विचारों का एक बहुमूल्य और श्रृंखलाबद्ध सार है। बापू के लेखों और पुस्तकों से उन्हींके शब्दों में विषयानुसार दोहन और संकलन तो होते ही रहते हैं। ऐसे कुछेक संकलन हमने प्रकाशित किये हैं और आगे भी करेंगे। किन्तु इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि श्री किशोरलालभाई ने बापू की विचारसरणी को अपनी भाषा में और क्रमबद्ध शैली में यहाँ व्यक्त किया है। स्वयं लेखक ने इस सम्बन्ध में दूसरे संस्करण के अपने निवेदन में कहा है:

> "मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी सत्पुरुष के विचारों को केवल उसकी पुस्तकों का अध्ययन करके संपूर्ण रूप से जाना या समझा नहीं जा सकता। इसके लिए उसका सहवास आवश्यक है। लेकिन सहवास के साथ-साथ ही उसके हृदय को समझने का और उसकी समग्र विचारसरणी के मूल आधार को पकड़ने का प्रयत्न होना चाहिए। यदि यह आधार हाथ लग जाय, तो फिर उसकी संपूर्ण विचार-सृष्टि रेखा-गणित में एक सिद्धान्त से दूसरे सिद्धान्त निकलते हैं उसी प्रकार समझ में आ सकती है। गांधीजी को समझने का मेरा प्रयत्न इसी प्रकार का है।"

इस प्रकार का प्रयत्न अपने मूल रूप में ही संगृहीत रहे, यह वांछनीय होगा। इसी कारण से श्री किशोरलालभाई अपने उस निवेदन में आगे कहते हैं :

> "इस पुस्तक में गांधीजी के लेखों का निष्कर्ष थोड़ा ही है। इसे उनकी भाषा का या शब्दों का दोहन नहीं कहा जा सकता। कभी कभी पाठक को यह भी लग सकता है कि 'गांधीजी के लेखों में ऐसा तो कहीं भी पढ़ने में नहीं आया।' इसलिए सच तो यह है कि जिस रूप में गांधीजी के हृदय और विचारों को मैंने समझा है, अधिकतर उसी रूप में उन्हें आपने ढंग से और अपनी भाषा में इस पुस्तक में मैंने प्रस्तुत किया है।"

अपनी विशिष्ट शैली में गांधीजी की विचारसरणी को प्रस्तुत करने के लिए श्री किशोरलालभाई ने जो विषय चुने हैं, उन विषयों को चौदह खण्डों में व्यवस्थित किया गया है। पाठकों को यह लग सकता है कि दूसरे अधिक विषयों का भी इस पुस्तक में समावेश किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, न्याय-व्यवस्था, प्रजातंत्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि। इस प्रकार के विभिन्न राजनीतिक विषयों का इसमें समावेश नहीं किया गया है—जो आज स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भारतीय प्रजा के लिए अत्यन्त प्रासंगिक विषय बन गये हैं। इनके अलावा भी दूसरे विषय सूझ सकते हैं। यदि हम यह बात याद रखें कि श्री किशोरलालभाई ने यह पुस्तक उस समय के वातावरण में लिखी थी, जब हमारे देशकी जनता स्वराज्य के लिए विदेशी सत्ता के साथ लड़ रही थी, तो शायद उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह मिलेगा कि उस समय हमारी जनता को इन विषयों पर अधिक सोचने का अवसर नहीं मिला था। स्वराज्य-संग्राम के जिस कार्य में जनता उस समय लगी हुई थी, उसके मुख्य अंगों और विचारों की भूमिका ही पुस्तक में स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत की गई होगी। और यदि ऐसा हुआ हो तो यह पुस्तक, एक प्रकार से, इतिहास का सुरक्षित रखने जैसा एक अंग मानी जायेगी। हमने यह माना है कि इस दृष्टि से भी 'गांधी-विचार-दोहन' के वर्तमान रूप में परिवर्तन करना उचित न होगा। श्री नरहरिभाई ने आरंभ के चार-पाँच खण्डों में जो थोड़े सुधार किये हैं, वे पुस्तक की शैली में मिल जानेवाले और विषय को विशद बनानेवाले हैं।

यह हिन्दी संस्करण मूल गुजराती ग्रन्थ की चौथी आवृत्ति के अनुसार तैयार किया गया है और उसी रूप में पाठकों के समक्ष रखा जा रहा है। आशा है हिन्दी-जगत में इस ग्रन्थ का वैसा ही स्वागत होगा, जैसा गुजराती संस्करण का गुजरात में हुआ है।

६-४-'६४

लेखक का निवेदन

(गुजराती की दूसरी आवृत्ति से)

इस छोटी-सी पुस्तक के जन्म का निमित्त कारण विलेपार्ले का गांधी-विद्यालय है। उस विद्यालय में गाँवों में जाकर जनता की सेवा के कामों में लगने की इच्छावाले तरुणों के लिए कुछ महीनों का एक प्रशिक्षण-वर्ग चलाया गया था। उसमें मुख्यतः महाराष्ट्र के विद्यार्थी थे। गांधीजी के विचारों और लेखों की जितनी जानकारी गुजरातवालों को हैं, उतनी महाराष्ट्र के लोगों को नहीं हैं। इस कारण उक्त विद्यालय की पढ़ाई का एक विषय 'गांधीजी के सिद्धांतों और विचारों का परिचय' रखा गया था। यह विषय मुझे सौंपा गया था। इसके निमित्त से मुझे जो तैयारी करनी पड़ी, उसमें से इस पुस्तक का जन्म हुआ है।

बाद में काकासाहब के साथ इस पुस्तक की योजना के बारे में चर्चा हुई और उन्होंने उसे पसन्द किया। उस चर्चा में यह तय हुआ कि जैसे-जैसे इस पुस्तक के प्रकरण तैयार होते जायें, वैसे-वैसे उन्हें गांधीजी के पास भेजा जाय और वे उन्हें जाँचकर सुधारें तथा प्रमाणित करें, जिससे गांधीजी की समूची विचारधारा को प्रस्तुत करनेवाली एक छोटी सर्वोपयोगी पुस्तक तैयार हो जाय।

गांधीजी ने इस बात को स्वीकार भी किया; किन्तु देश में और विलायत में काम का जो भारी बोझ उन पर बना रहा, उसके कारण वे इन प्रकरणों को देख जाने का समय न निकाल सके। बाद में ४ जनवरी, १९३२ के दिन वे बन्दी बना लिये गये। इस कारण पुस्तक का पहला संस्करण उनके संशोधनों के बिना ही छापना पड़ा था।[१] किन्तु अब मुझे यह लिखते हुए आनन्द और संतोष हो रहा है कि गांधीजी इस सारी पुस्तक को देख चुके हैं और उन्होंने इसमें संशोधन भी कर दिये हैं। इस पुस्तक में उनके सभी संशोधन सम्मिलित कर लिये गये, तो उसमें आश्चर्य की क्या बात हुई? लेकिन इसके अलावा मैंने और सथियों ने भी पुस्तक को फिर से जाँचा है और भाषा की रचना में कुछ सुधार करके नये प्रकरण बढ़ाये हैं अथवा कुछ पुरानों को नये सिरे से लिखा है और गांधीजी उन सबको दुबारा देख गये हैं।

इस पुस्तक में गांधीजी के लेखों का निष्कर्ष थोड़ा ही है। इसे उनकी भाषा अथवा शब्दों का दोहन नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी पाठकों को यह भी लग सकता है कि 'गांधीजी के लेखों में ऐसा तो कहीं भी पढ़ने में नहीं आया।' इसलिए सच तो यह है कि जिस रूप में गांधीजी के हृदय और विचारों को मैंने समझा है, अधिकतर उसी रूप में उन्हें अपने ढंग से और अपनी भाषा में इस पुस्तक में मैंने प्रस्तुत किया है। इस कारण यद्यपि गांधीजी इसे देख गये हैं, तो भी इसकी प्रमाणभूतता गांधीजी के अपने लेखों जितनी नहीं मानी जा सकती।

गांधीजी से प्रेरणा-प्राप्त इस युग में छोटी-बड़ी अनेकानेक' संस्थाएँ खड़ी हुई हैं और उनमें अनेक कार्यकर्ता विविध रचनात्मक काम कर रहे हैं। इसके साथ ही आत्मशुद्धि तथा स्वराज्य-प्राप्ति के लिए आतुर आम जनता का भी एक बड़ा भाग गांधीजी के विचारों को अपनाने की कोशिश में लगा हैं। उन सबके लिए अनेक प्रकार से उपयोगी और मार्गदर्शक बनने योग्य सोलहों आने प्रमाणभूत यह पुस्तक चाहे न बनी हो, फिर भी अब यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि यह पुस्तक आज के प्रश्नों और प्रभेयों के बारे में गांधीजी की विचारधारा को ठीक तरह से प्रस्तुत करती है।

प्रथम संस्करण के छपने से पहले ही इस पुस्तक के दो खण्डों को 'गुजराती' के सम्पादक ने अपने गांधी-अंक और दीवाली-अंक में छापकर पुस्तक की आंशिक प्रसिद्धि में योग दिया था। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

यदि श्री गोकुलभाई भट्ट ने गांधी-विद्यालय खोलने का हठ न किया होता और काकासाहब ने उस हठ का समर्थन न किया होता, तो संभव है कि इस पुस्तक की कल्पना ही न जन्मी होती। इसलिए इन दोनों का और स्वामी आनन्द का, जिन्होंने इस पुस्तक के पहले संस्करण के समय मुझे बहुत प्रोत्साहित किया था, मैं आभारी हूँ।

भाई रणछोड़जी मिस्त्री ने इस पुस्तक का पहला संस्करण छापने की जिम्मेदारी उठाई और दूसरा संस्करण नवजीवन प्रकाशन मन्दिर को सौंपने की उदारता दिखाई, इसके लिए मैं अन्त में उनका भी ऋणी हूँ।

कुछ लोगों को यह लगेगा कि जो गांधीजी के लेखों में स्पष्ट रूप से नहीं है, ऐसा बहुत-कुछ इस पुस्तक में हैं। किसी के मन में यह शंका भी उठेगी कि क्या ऐसी बातें गांधीजी की अन्तरंग मण्डली में होननाली चर्चाओं से ली गई हैं? यहाँ मैं यह कहना चाहता हूँ कि असल में ऐसी कोई बात नहीं है। मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी सत्पुरुष के विचारों को केवल उसकी पुस्तकों का अध्ययन करके सम्पूर्ण रूप से जाना या समझा नहीं जा सकता। इसके लिए उसका सहवास आवश्यक हैं। किन्तु सहवास के साथ-साथ उसके हृदय को समझने का और उसकी समग्र विचारसरणी के मूल आधार को पकड़ने का प्रयत्न होना चाहिए। यदि यह आधार हाथ लग जाय, तो फिर उसकी सम्पूर्ण विचार-सृष्टि—रेखा-गणित में एक सिद्धान्त से दूसरे सिद्धांत निकलते हैं उसी प्रकार समझ में आ सकती है। गांधीजी को समझने का मेरा प्रयत्न इसी प्रकार का है। वह किस हद तक सफल हुआ है, इसे तो गांधीजी और मेरी तरह उनके साथ जुड़े हुए मेरे दूसरे भाई-बहन ही कह सकते हैं।

इस पुस्तक को लिखने के प्रयत्न में मैं स्वयं ही गांधीजी को अधिक स्पष्टता से देख-समझ सका हूँ; इसलिए मेरे अपने लिए तो यह प्रयत्न बहुत लाभदायी सिद्ध हुआ है। इसी से आशा होती है कि पाठकों के लिए भी यह पुस्तक अवश्य ही लाभप्रद सिद्ध होगी।

अन्त में जिनके विचारों का दोहन करने का मैंने प्रयत्न किया है, और जिनके प्रेम तथा समागम से मैं सदा अनुगृहीत हुआ हूँ, उन पूज्य बापू के चरणों में मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूँ।

कि० घ० मशरूवाला

---

१. 'पहले संस्करण के निवेदन में यह छपा था कि 'इनमें से जितने प्रकरण गांधीजी देख सके थे उनके सामने विषय-सूचि में फूल का चिह्न (*) लगाया है |' पहले संस्करण में ये चिह्न दिये भी गये हैं | लेकिन जिन दिनों पुस्तक छपी उन दिनों मैं जेल में था | और जब वह छपकर मिली तो मैंने देखा कि किसी असावधानी के कारण 'प्रस्थान' को जो पाण्डुलिपि मिली थी, वह गांधीजी के संशोधनोंवाली नहीं थी। फलत: उनके किये हुए संशोधन छप ही नहीं सके थे। इस प्रकार पाठकों को कुछ ग़लत जानकारी देने का मुझे दुःख है।

सम्मति

मैं इस विचार-दोहन को पढ़ गया हूँ। भाई किशोरलाल को मेरे विचारों का असाधारण परिचय है। जैसा परिचय है वैसी ही उनकी ग्रहण-शक्ति है। इसलिए मुझे बहुत ही कम जगहों में परिवर्तन करने पड़े हैं। चूँकि हम दोनों के बीच अनेक विषयों में विचारों की एकता है, इसलिए यद्यपि भाषा केवल भाई किशोरलाल की है, तो भी प्रत्येक प्रकरण पर अपनी सम्मति देने में मुझे कठिनाई नहीं हुई है। इस दोहन की विशेषता यह है कि इसमें भाई किशोरलाल अनेक विषयों को थोड़े में समा सके हैं।

बोरसद, मोहनदास करमचन्द गांधी

२०-५-'३५

अनुक्रमणिका

प्रकाशक का निवेदन
लेखक का निवेदन
सम्मति

खण्ड पहला: धर्म

१. परमेश्वर
२. सत्य
३. अहिंसा
४. ब्रह्मचर्य
५. अस्वाद
६. अस्तेय
७. अपरिग्रह
८. शरीर-श्रम अथवा अंग-मेहनत
९. स्वदेशी
१०. अभय
११. नम्रता
१२. व्रत-प्रतिज्ञा
१३. उपासना-प्रार्थना
१४. व्रतों की साधना

खण्ड दूसरा: धर्ममार्ग

१. सर्वधर्म-समभाव
२. धर्म और अधर्म
३. सत्याग्रह
४. हिन्दू धर्म
५. गीता-रामायण

खण्ड तीसरा: समाज

१. वर्णाश्रम

२. वर्णधर्म

३. आश्रम

४. स्त्री-जाति

५. अस्पृश्यता

६. खाद्याखाद्य-विवेक

७. विवाह

८. संतति-नियमन

९. दम्पती का ब्रह्मचर्य

१०. विधवा-विवाह

११. वर्णान्तर-विवाह

खण्ड चौथा: सत्याग्रह

१. सत्याग्रही का कर्तव्य

२. सत्याग्रही की मर्यादा

३. सत्याग्रह का मूलभूत सिद्धांत

४. सत्याग्रह के सामान्य लक्षण

५. सत्याग्रह के प्रसंग

६. सत्याग्रह के प्रकार

७. समझाइश

८. उपवास

९. असहयोग

१०. सविनय अवज्ञा

११. न्यायालय में सत्याग्रही का व्यवहार

१२. जेल में सत्याग्रही का व्यवहार

१३. सत्याग्रहों की नियमावली

१४. सत्याग्रही की योग्यता

१५. सामुदायिक सत्याग्रह

खण्ड पाँचवाँ: स्वराज्य

१. रामराज्य

२. तंत्र-सुधार और संविधान-सुधार

३. साम्प्रदायिक एकता

४. ब्रिटिशों के साथ सम्बन्ध

५. देशी राज्य

६. देशकी रक्षा

खण्ड छठा: वाणिज्य

१. पश्चिम का अर्थशास्त्र

२. भारतीय अर्थशास्त्र

३. ग्राम-दृष्टि

४. धन की इच्छा

५. व्यापार

६. सराफी

७. पूरा मेहनताना

८. मजदूरों के प्रश्न

९. स्वावलम्बन और श्रम-विभाजन

१०. राजनीतिक स्वदेशी

११. यांत्रिक साधन

१२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

खण्ड सातवाँ: उद्योग

१. खेती

२. सहयोगी उद्योग

३. 'सौ टका स्वदेशी'

४. विशेष उद्योग

५. हानिकारक उद्योग

६. उपयोगी धंधे

७. ललित कलाएँ

खण्ड आठवाँ: गोपालन

१. धार्मिक दृष्टि

२. अन्य प्राणियों का पालन

३. प्राणियों के प्रति क्रूरता

४. गोवध

५. मरे हुए ढोर

खण्ड नौवाँ: खादी

१. चरखे के गुण

२. चरखे के बारे में खोटे खयाल

३. खादी और मिल का कपड़ा

४. चरखा और हाथ-करघा

५. खादी-उत्पत्ति की क्रियाएँ

६. स्वावलम्बी और मजदूरीवाली खादी

७. यज्ञार्थ कताई

८. खादी-कार्य

खण्ड दसवां: स्वच्छता और आरोग्य

१. शारीरिक स्वच्छता
२. सुघड़ और स्वच्छ आदतें
३. बाह्य स्वच्छता
४. शौच
५. जलाशय
६. रोग
७. उपचार
८. आहार
९. व्यायाम

खण्ड ग्यारहवाँ: शिक्षा

१. शिक्षा का ध्येय
२. अराष्ट्रीय शिक्षा
३. राष्ट्रीय शिक्षा
४. उद्योग द्वारा शिक्षा
५. बाल-शिक्षा
६. ग्रामवासी की शिक्षा
७. स्त्री-शिक्षा
८. धार्मिक शिक्षा
९. शिक्षा का माध्यम
१०. अंगेजी भाषा
११. भाषा-ज्ञान
१२. राष्ट्रभाषा
१३. इतिहास

१४. शिक्षा के अन्य विषय

१५. शिक्षक

१६. विद्यार्थी

१७. छात्रावास

१८. शिक्षा का खर्च

१९. उपसंहार

खण्ड बारहवाँ: साहित्य और कला

१. साधारण टीका

२. साहित्य की शैली

३. अनुवाद

४. हिज्जे

५. समाचार-पत्र

६. कला

खण्ड तेरहवाँ: लोकसेवक

१. लोकसेवक के साधारण लक्षण

२. ग्रामसेवक के कर्तव्य

खण्ड चौदहवाँ: संस्थाएँ

१. संस्था की सफलता

२. संस्था का संचालक

३. संस्था के सदस्य

४. संस्था का आर्थिक व्यवहार

खण्ड पहला: धर्म

१. परमेश्वर

१. परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र योग्य ध्येय है। जीवन के दूसरे सारे कार्य इस ध्येय को सिद्ध करने के लिए ही किये जाने चाहिए।

२. जो कार्य इस ध्येय के विरोधी मालूम हों, उनका स्थूल रूप से दीखनेवाला फल कितना ही ललचानेवाला और लाभ पहुँचानेवाला क्यों न लगे, तो भी उन कार्यो को त्याज्य समझना चाहिए।

३. जो कार्य इस ध्येय के लिए साधनरूप मालूम हों, वे कितने ही कठिन, संकटपूर्ण और स्थूल दृष्टि से हानि पहुँचानेवाले क्यों न लगें, फिर भी अवश्य करने योग्य है।

४. परमेश्वर का स्वरूप इन्द्रिय, अन्तःकरण और वाणी से परे है। उसे पहचाना जाता है, उसका अनुभव किया जाता है। उसे पहचानने की दो सीढ़ियाँ हैं: पहली सीढ़ी श्रद्धा की और दूसरी उससे उत्पन्न अनुभवज्ञान की। दुनिया के बड़े-से-बड़े शिक्षकों ने अपने अनुभव से इस बातकी साक्षी दी है कि परमेश्वर अनन्त, अनादि, सदा एकरूप रहनेवाला, विश्व का आत्मारूप अथवा आधाररूप और विश्व का कारण है। वह चैतन्य अथवा ज्ञान-स्वरूप है। वही एक सनातन अस्तित्ववाला है; बाकी सब नाशवान है। इसलिए एक छोटे से शब्द द्वारा समझने के विचार से हम उसे सत्य कहते हैं।

५. इस प्रकार यह कहने के बदले कि परमेश्वर ही सत्य है, यह कहना अधिक अच्छा है कि सत्य ही परमेश्वर है। यह सत्य केवल जड़ गुण नहीं, बल्कि शुद्ध चैतन्यमय है। वही इस विश्व का तंत्र चलाता है, इसी कारण वह परमेश्वर है।

६. यह ज्ञान सत्यरूपी परमेश्वर की निर्गुण भावना है।

७. जो कुछ मुझे आज इतना धर्म्य, न्याय्य और योग्य मालूम होता है कि उसे करने, स्वीकारने या प्रकट करने में मुझे लज्जा का अनुभव नहीं होता, जिसे मुझे करना ही चाहिए

और जिसे मैं न करूँ तो उजला मुँह लेकर जी ही न सकूँ, वह मेरे लिए सत्य है। मेरे मन वही परमेश्वर का सगुण स्वरूप है।

८. सत्य को अविश्रांत रूप से खोज़ते रहना तथा जैसा और जितना सत्य समझ में आया हो, उसका लगन के साथ अमल करना, इसीका नाम है सत्य का आग्रह; और यह परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन-मार्ग है।

९. चूँकि सत्य अनन्त और विश्व अपार है, इसलिए इस खोज़ का अन्त कभी आता ही नहीं। इससे यह लग सकता है कि इस तरह तो परमेश्वर का सम्पूर्ण साक्षात्कार संभव नहीं। साधक को इसकी चिन्ता में नहीं पड़ना है और चाहे जहाँ अपार का मंथन करने नहीं बैठना है। उसे तो अपने जीवन में जो भी कुछ बड़े या छोटे, महत्त्व के या नगण्य कार्य और क्रियायें करनी पड़ती हैं, उन्हींमें वह सत्य को खोज़े और उसके प्रयोग करें। उस दशा में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्याय से उसे सत्य का पता लग जायेगा।

१०. अपने आसपास चल रहे असत्य, अन्याय अथवा अधर्म को उदासीन भाव से देखनेवाला पुरुष सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतएव सत्य का शोधक तो उस असत्य, अन्याय और अधर्म के उच्छेद के लिए तीव्र पुरुषार्थ करेगा। और जब तक सत्यादि साधनों द्वारा वह उनका उच्छेद करने में सफल न होगा, तब तक वह सत्य की अपनी साधना को अपूर्ण ही समझेगा। इस कारण असत्य, अन्याय और अधर्म का प्रतिकार भी सत्याग्रह का आवश्यक अंग है।

११. सब धर्म कहते हैं, इतिहास भी इसकी साक्षी देता है और अनुभव से भी पता चलता है कि असत्य, हिंसा आदि से युक्त साधनों द्वारा सत्यकी शोध संभव नहीं। इसी प्रकार संयम, व्रत, उपासना आदि से चित्त को शुद्ध करने का प्रयत्न किये बिना भी उसका ज्ञान होता नहीं। अतएव आगे बताये गये व्रतादि को ईश्वर-साक्षात्कार का अनिवार्य साधन माना है।

२. सत्य

१. सत्य ही परमेश्वर है—यह सत्य का 'पर' अथवा ऊँचा अर्थ हुआ। उसके 'अपर' अथवा साधारण अर्थ में सत्य का मतलब है सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म।

२. सत्य में सत् अर्थात् 'है' धातु है। वह हमेशा है और रहेगा। असत्य का अर्थ है 'नहीं'। उसका अस्तित्व ही नहीं है। उसका सदा नाश है। जय तो सत्य की ही है। जो सत्य है वही अंत में हितकर और भला है। अतएव सत्य अथवा सत् का अर्थ भला भी होता है; और जो सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म है, वही सदाग्रह, सद्विचार, सद्वाणी और सत्कर्म है।

३. जिन सत्य और सनातन नियमों से विश्व का जड़-चेतन तंत्र चलता है, अविश्रांत रूप से उनकी खोज़ में लगे रहना और तदनुसार अपने जीवन को बनाते रहना तथा सत्यादि साधनों द्वारा असत्य का प्रतिकार करना ही सत्याग्रह है।

४. जो विचार हमारी राग-द्वेष-विहीन, निष्पक्ष तथा श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धि को सदा के लिए, अथवा जिन परिस्थितियों का अंदाज लग सकता है उन परिस्थितियों में यथासंभव दीर्घ समय के लिए, योग्य और न्यायोचित प्रतीत हो, वह हमारे लिए सत्य विचार है।

५. जैसी हमारी जानकारी है उसी रूप में वस्तुस्थिति को, कर्तव्य आ पड़ने पर, जो वाणी ठीक-ठीक प्रस्तुत करती है, और उसमें से कोई भिन्न आभास उत्पन्न हो, इस प्रकार कुछ घटाने या बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करती, वह सत्यवाणी है।

६. विचार द्वारा जो सत्य प्रतीत होता है, उसीका विवेकपूर्ण आचरण सत्य कर्म है।

७. यों कहिये कि 'पर' सत्यरूपी जो परमेश्वर है, उसे जानने के लिए 'अपर' सत्य एक साधन है; अथवा सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म की अर्थात् अपर सत्य के पालन की पूर्ण सिद्धि ही परमेश्वर का साक्षात्कार कही जा सकती है; साधक के लिए दोनों में कोई भेद नहीं।

३. अहिंसा

१. आम तौर पर लोग सत्य का स्थूल अर्थ सत्यवादिता ही समझते हैं। लेकिन सत्य वाणी में सत्य के पालन का पूरा समावेश नहीं होता; इसी तरह साधारणतया लोग अहिंसा का स्थूल अर्थ यही करते हैं कि दूसरे जीव को मारना नहीं; किन्तु केवल प्राण न लेने से अहिंसा की साधना पूरी नहीं होती।

२. अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं, बल्कि मन की वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं भी द्वेष की गंध तक नहीं रहती, वह अहिंसा है।

३. इस प्रकार की अहिंसा सत्य के समान ही व्यापक होती है। ऐसी अहिंसाकी सिद्धि के बिना सत्य की सिद्धि संभव नहीं। अतएव दूसरी दृष्टि से देखें, तो सत्य अहिंसा की पराकाष्ठा ही है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में भेद नहीं; फिर भी समझने की सुविधा के लिए सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन माना है।

४. ये सत्य और अहिंसा सिक्के के दो पहलुओं की तरह एक ही सनातन वस्तुकी दो बाजुओं के समान हैं।

५. अनेक धर्मों में ईश्वर को जो प्रेम स्वरूप कहा गया है, उस प्रेम और इस अहिंसा में कोई अन्तर नहीं हैं।

६. प्रेम के शुद्ध, व्यापक स्वरूप का नाम अहिंसा है। जिस प्रेम में राग या मोह की गंध आती है, उसमें अहिंसा नहीं होती। जहाँ राग और मोह होते हैं, वहाँ द्वेष का बीज भी रहता ही है। प्राय: प्रेम में राग-द्वेष पाये जाते हैं। इसी लिए तत्ववेत्ताओं ने प्रेम शब्द का उपयोग न कर के अहिंसा शब्द की योजना की है और उसे परम धर्म कहा है।

७. दूसरों के शरीर या मन को दुःख अथवा चोट न पहुँचाना ही अहिंसा-धर्म नहीं है; परन्तु उसे साधारणत: अहिंसा-धर्म का एक आँखों दीखनेवाला लक्षण कहा जा सकता है। यह संभव है कि दूसरे के शरीर अथवा मन को स्थूल दृष्टि से दुःख या चोट पहुँचती दिखाई पड़े, और फिर भी उसमें शुद्ध अहिंसा-धर्म का पालन हो रहा हो। इसके विपरीत,

इस प्रकार के दुःख अथवा चोट पहुँचाने का आरोप लगाने जैसा कोई काम न किया हो, फिर भी हो सकता है कि उस मनुष्य ने हिंसा की हो। अहिंसा का भाव आंखों से दीखनेवाले परिणाम में ही नहीं, बल्कि अन्तःकरण की राग-द्वेष-रहित स्थिति में है।

८. फिर भी आँखों से दीखनेवाले लक्षण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्यों कि यद्यपि यह एक स्थूल साधन है, तो भी अपने या दूसरे के हृदय में अहिंसा-वृत्ति का कितना विकास हुआ है, इसका मोटा अंदाज इस लक्षण से लग सकता है। जहाँ दूसरे भूत-प्राणियों को उद्विग्न न करनेवाली वाणी के और वैसे ही कर्म के दर्शन होते है, वहाँ साधारण जीवन में तो इस बात का प्रत्यक्ष पता चल सकता है कि उसमें अहिंसा किस हद तक पुष्ट हुई है। निश्चय ही अहिंसामय दुःख देने के प्रसंग भी आते हैं; उदाहरण के लिए, शुद्ध हेतु से, आत्मशुद्धि के निमित्त किये गये उपवास से अपने प्रति प्रेम रखनेवालों पर एक प्रकार का दबाव पड़ता है; किन्तु उस समय उसमें विद्यमान अहिंसा स्पष्ट दीखती है। जहाँ स्वार्थ की लेशमात्र भी गंध है, वहाँ पूर्ण अहिंसा संभव नहीं।

९. परन्तु इतने से यह नहीं माना जा सकता कि अहिंसाकी साधना पूरी हुई है। अहिंसा का साधक केवल प्राणियों को उद्विग्न बनानेवाली वाणी का उच्चारण और कर्म का आचरण न करके अथवा मन में भी उनके बारे में द्वेषभाव न रखकर ही सन्तुष्ट नहीं होगा, बल्कि वह संसार के वर्तमान दुःखों का दर्शन करने, उनके उपाय खोज़ने और उन उपायों को अमल में लाने का प्रयत्न करता रहेगा; साथ ही दूसरों के सुख के लिए वह स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहता रहेगा। तात्पर्य यह कि अहिंसा केवल निवृत्ति-रूप कर्म अथवा निष्क्रिया नहीं है, बल्कि बलवान प्रवृत्ति अथवा प्रक्रिया है।

१०. अहिंसा में तीव्र कार्यसाधक शक्ति विद्यमान है। उसमें विद्यमान अमोघ शक्ति का पूर्ण संशोधन अभी हुआ नहीं है। 'अहिंसा के निकट सारा विष और वैर शान्त हो जाता है', यह सूत्र केवल उपदेश-वाक्य नहीं है, बल्कि ऋषि का अनुभव-वाक्य है। जाने-अनजाने, सहज प्रेरणा से, सब प्राणी एक-दूसरे के लिए खपने का धर्म पालते हैं और इस धर्म के

पालन से ही संसार निभता है। फिर भी इस शक्ति के सम्पूर्ण विकास का और सब कार्यों तथा प्रसंगों के लिए इसके प्रयोग का मार्ग अभी ज्ञान पूर्वक खोज़ा नहीं गया है।

११. हिंसा के मार्गों की खोज़ और उसके संगठन के लिए मनुष्य ने जितना दीर्घ उद्योग किया है और एक बड़ी हद तक उसका शास्त्र तैयार करने में जो सफलता प्राप्त की है, यदि उतना उद्योग वह अहिंसा की शक्ति की खोज़ और उसके संगठन के लिए करें, तो उससे यह सिद्ध हो सकता है कि अहिंसा मनुष्य-जाति के दु:खों को दूर करने के लिए एक अमूल्य, कभी व्यर्थ न होनेवाला और परिणाम में दोनों पक्षों का कल्याण करनेवाला साधन है।

१२. जिस श्रद्धा और उद्योग से वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों की खोज़ करते है और उनके नियमों को विविध रीति से व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करते है, उसी श्रद्धा और उद्योग से अहिंसा-शक्ति की खोज़ करने और उसके नियमों को व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

४. ब्रह्मचर्य

१. जिस प्रकार अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि संभव नहीं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना सत्य और अहिंसा दोनों की सिद्धि असम्भव है।

२. ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म अथवा परमेश्वर के मार्ग पर चलना; अर्थात् मन और इन्द्रियों को परमेश्वर के मार्ग में लगाये रखना।

३. रागादि विकारों के बिना अब्रह्मचर्य अर्थात् इन्द्रियपरायणता संभव नहीं। विकारी मनुष्य सत्य अथवा अहिंसा का पूर्ण पालन कर ही नहीं सकता; तात्पर्य यह कि वह कभी आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता।

४. अतएव ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य-रक्षा अथवा काम-जय ही नहीं है, बल्कि उसके लिए सभी इन्द्रियों का संयम आवश्यक हैं।

५. लेकिन लोक-व्यवहार में ब्रह्मचर्य का अर्थ काम-जय ही किया जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को काम-जय ही अधिक-से-अधिक कठिन इन्द्रिय-जय मालूम होती है। लेकिन इस अर्थ को अधूरा समझना चाहिए।

६. वस्तुतः जीवन को सुखपूर्वक बिताने के लिए दूसरी इन्द्रियों का थोड़ा-बहुत भोग आवश्यक हो जाता है; किन्तु काम-जय से अथवा जननेन्द्रिय के सम्पूर्ण संयम से जीवन-निर्वाह अशक्य नहीं बनता, उल्टे वह अधिक अच्छा और तेजस्वी बन जाता है।

७. आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए जीवन की पूर्णता और परमानन्द प्राप्त करने की जितनी आशा और अनुकूलता है, उतनी अब्रह्मचारी के लिए नहीं। ऐसे स्त्री-पुरुषों के जीवन अविवाहित और विवाहित दोनों के लिए दीपस्तम्भ-रूप होते हैं।

८. किन्तु दूसरे प्राणियों की तुलना में मनुष्य आहार-विहार में अधिक स्वतंत्रता से काम लेता है और इस कारण हम सब इन्द्रियों के भोग अधिक भोगते है। परिणाम यह हुआ है कि उसे केवल वर्ष के अमुक दिनों में ही काम का वेग नहीं आता, बल्कि वह

उसका-पोषण निरन्तर करता रहता है। इस प्रकार चूँकि काम-विकार उसका सदा का एक रोग बन गया है, अतएव उसे जीतना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो गया है।

९. किन्तु विचारशील मनुष्य समझ सकता है कि दूसरी इन्द्रियों का पोषण किये बिना काम को बहुत पोषण नहीं मिलता, और यह कि दूसरी इन्द्रियों को जीते बिना काम को जीतने की आशा रखना व्यर्थ हैं।

१०. इस प्रकार प्रयत्न करनेवाले स्त्री-पुरुष के लिए ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं होता, जितना आम तौर पर माना जाता है।

५. अस्वाद

इस तरह एक व्रत दूसरे व्रत को न्योतता है।

१. यदि एक इन्द्रिय भी निरंकुश बनती है, तो वह दूसरी इन्द्रियों पर प्राप्त अंकुश को ढीला कर देती है। इसमें भी ब्रह्मचर्य की दृष्टि से स्वाद की इन्द्रिय को जीतना सबसे कठिन और महत्त्वपूर्ण है। इस पर चौकस ध्यान रखने की दृष्टि से स्वाद-जय को व्रत में विशेष स्थान दिया है।

२. शरीर के नष्ट होते रहनेवाले तत्वों की फिर से पूर्ति करने और इस प्रकार शरीर को काम करने योग्य बनाये रखने के लिए आहार आवश्यक है। अतएव इस दृष्टि से ही जितने और जिस प्रकार के आहार की आवश्यकता हो उतना और उस प्रकार का आहार औषधि की मात्रा में लेना चाहिए।

३. मतलब यह कि मनुष्य को यथासम्भव अल्पाहारी होना चाहिए। स्वाद के लिए अर्थात् जीभ को रुचता है इसलिए कुछ खाना अथवा आहार में मिलावट करना या अधिक आहार करना अस्वाद-व्रत का भंग करना है।

४. अस्वाद-वृत्ति से चलाई जानेवाली संयुक्त पाकशाला में पहुँच कर वहाँ जो आहार तैयार हुआ हो, उसमें से जिसे हमने छोड़ा नहीं है वैसा आहार ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसकी टीका न करते हुए, संतोषपूर्वक और शरीर के लिए जितना आवश्यक है उतना खाना अस्वाद-व्रत के पालन में बहुत सहायक होता है।

५. पर अस्वाद का अर्थ कुस्वाद करना ठीक नहीं। इसलिए जो अस्वाद-व्रत का पालन करना चाहते हैं, वे कुछ अघोर-पंथियों की तरह ऐसी चीजें कभी नहीं खायेंगे, जो पच नहीं सकती अथवा जो कच्ची होने के कारण आंतों को नुकसान पहुँचाती हैं, जो ग़लत तरीके से पकाई गई हैं अथवा जल जानें के कारण खाने योग्य नहीं रही हैं और जो बहुत तीखी, खारी अथवा खट्टी, ठण्डी तथा उतरी हुई हैं।

६. अस्तेय

१. दूसरे की मालिकीवाली वस्तु न लेना ही अस्तेय का अर्थ नहीं। अपनी मानी जानेवाली, किन्तु अपने को जिस की आवश्यकता नहीं है, ऐसी वस्तु का उपयोग करना भी चोरी ही है। दूसरेकी वस्तु पर कुदृष्टि डालना मानसिक चोरी है। दूसरे के विचार या आविष्कार का पता लगाकर उन्हें अपने विचार या आविष्कार के रूप में रखना वैचारिक चोरी है।

२. यदि हम संसार की सब वस्तुओं को परमेश्वर की मालिकी की समझे और प्राणिमात्र को परमात्मा के कर्ता-हर्तापन के अधीन रहनेवाला एक विशाल कुटुम्ब मानें, तो संसार की नितान्त आवश्यक वस्तुओं का उपभोगभर करने का अधिकार हमें रहता है। उन पर इससे अधिक अधिकार समझना चोरी है।

३. अस्तेय-व्रत का पालन करनेवाला अपनी आवश्यकताओं को उत्तरोत्तर घटायेगा। लगभग हम सभी अपनी आवश्यकताओं को, जितनी वे होनी चाहिए उससे अधिक बढ़ाकर रखते हैं। इस दुनियाकी अधिकांश कंगालियत इसी कारण पैदा हुई है।

४. अस्तेय हमें सिखाता है कि हम जिस चीज का उपयोग करें, उसे ठीक जतन के साथ बरतें। किसी चीज को इस तरह बरतना कि उसका व्यर्थ बिगाड़ हो, अस्तेय का भंग करना है।

५. माल के उत्पादन की आज की पद्धति में हम प्राकृतिक साधन-सम्पत्ति का आवश्यकता से अधिक नाश करते हैं और कच्चे माल को नाहक बिगाड़ते हैं। यह अस्तेय का सामुदायिक भंग है। वर्तमान पीढ़ी इस प्रकार अपने लोभ के कारण भावी पीढ़ियों के मुँह का कौर छीन लेती है।

७. अपरिग्रह

१. अस्तेय और अपरिग्रह के बीच बहुत कम भेद है। जिस की हमें आज आवश्यकता नहीं है, उसे भविष्य के विचार से संग्रह करके रखना परिग्रह है। परमेश्वर पर विश्वास रखनेवाला यह मानता है कि जब जिस वस्तु की स्पष्ट आवश्यकता होगी तब वह मिल ही जायेगी। इस कारण वह किसी प्रकार के संग्रह की उपाधि में पड़ता ही नहीं।

२. इसका यह मतलब नहीं कि जो सशक्त होते हुए भी मेहनत नहीं करता, परमेश्वर उसकी आवश्यकताएँ भी पूरी करता है। जिस की नीयत श्रम करने की नहीं है अथवा जो श्रम को आपत्ति समझता है, उसे तो इस बात का विश्वास ही नहीं होता कि परमेश्वर उसकी आवश्यकताएँ पूरी करनेवाला है। इस कारण वह अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही आधार रखता है। किन्तु जो शक्ति होने पर पूरा-पूरा श्रम करता है और श्रम करने में ही प्रतिष्ठा का अनुभव करता है और फिर भी अपरिग्रही रहता है, उसके निर्वाह की चिन्ता परमेश्वर करता है।

३. साथ ही, इसका यह अर्थ भी नहीं कि समाज में रहकर अपरिग्रह-व्रत का पालन करने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य अपने पास आई हुई वस्तुओं को रास्ते पर रख आये अथवा बिगड़ने दे। वह अपने को उन वस्तुओं का रक्षक समझे और उनकी ठीक-ठीक सार-संभाल करे; किन्तु एक क्षण के लिए भी अपने को उनका स्वामी न समझे। इस प्रकार जिन के लिए उन वस्तुओं का उपयोग आवश्यक है, उन्हें उनका उपयोग करने देने में वह बाधक नहीं बनेगा। यह समझकर कि मेरे अथवा मेरे बाल-बच्चों के काम आयेगा, जो व्यक्ति एक चिथड़े को भी बाँधें रखता है और आवश्यकता पड़ने पर भी दूसरे को उसका उपयोग नहीं करने देता, वह परिग्रही है। किन्तु जिस मनुष्य की ऐसी वृत्ति नहीं है, वह लाख रुपयों की पूंजी लेकर बैठा हो तो भी अपरिग्रही है।

४. संसार में जो विषमता और उससे उत्पन्न दुःख पाये जाते हैं, उनका मुख्य कारण समाज की परिग्रह बढ़ाते जाने की वृत्ति है। सच्ची संस्कृति और सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह की वृद्धि नहीं, बल्कि विचारपूर्वक और इच्छापूर्वक परिग्रह घटाना है।

८. शरीर-श्रम अथवा अंग-मेहनत

१. जीवन के हेतु आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने के लिए स्वयं शारीरिक परिश्रम करना अस्तेय ओर अपरिग्रह से उत्पन्न होनेवाला सीधा नियम है। जो पदार्थ बिना परिश्रम के पैदा नहीं होते और जिन के बिना जीवन टिक नहीं सकता, उनके लिए स्वयं परिश्रम किये बिना यदि हम उनका उपभोग करते हैं, तो संसार के प्रति चोर सिद्ध होते हैं।

२. पारमार्थिक भाव से किया गया ऐसा परिश्रम यज्ञ कहलाता है। अपने परिश्रम से उत्पन्न पदार्थों का स्वयं ही उपभोग करने की अभिलाषा रखना सकाम कर्म कहा जाता है। इस प्रकार की अभिलाषा न रखकर और यह समझकर कि संसार के लिए इतने पदार्थ उत्पन्न होने ही चाहिए, जो उनके लिए परिश्रम करता है, वह उसका निष्काम कर्म होता है और उसे यज्ञ कहा जाता है।

३. मैले, कचरे आदि चीजों की उचित व्यवस्था की जाय, तो उससे न सिर्फ गंदगी दूर होती है, बल्कि उन चीजों की बहुत कीमती खाद बनती है। अतएव इस निमित्त से किया गया परिश्रम भी यज्ञ का ही प्रकार कहा जा सकता है। वैसा परिश्रम हरएक को करना ही चाहिए। हरएक व्यक्ति को और संभव न हो, तो हरएक परिवार को स्वयं अपना भंगी बनना चाहिए। इस आवश्यक और आरोग्य-प्रद काम को हलका मानना अतिशय अनर्थकारी है।

४. इसी प्रकार अपनी रोटी के लिए आवश्यक शरीर-श्रम अथवा अंग-मेहनत, जिसे अंग्रेजी में 'ब्रेड लेबर' कहा है, बालक, अशक्त अथवा अपंगों के अतिरिक्त हरएक मनुष्य को करना चाहिए। जो कमर झुकाकर मजदूरी नहीं करता, उसे खाने का अधिकार नहीं है।

५. इस दृष्टि से छान-बीन करने पर पता चलता है कि हम सब, जो पढ़े-लिखे कहे जाते है, जितना अपनी मेहनत से उत्पन्न कर सकते हैं उससे कहीं अधिक पदार्थों का उपभोग करते हैं और निकम्मा या ज़रूरत से ज्यादा संग्रह करके रखते हैं। मतलब यह

कि हम क्षण-क्षण में अस्तेय और अपरिग्रह-व्रत का भंग करते हैं, और संसार में तंगी और कंगालियत के साथ ही इनके परिणाम-स्वरूप बेहिसाब झगड़े पैदा करते हैं और समाज में ऊँच-नीच के भेद खड़े करते हैं।

६. कुछ लोग अपने को बौद्धिक श्रम करनेवाला मानते हैं और समाज में बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवी के भेद खड़े करके अपने को श्रमजीवी से ऊँचा समझते हैं। बुद्धिजीवी अपने तथाकथित बौद्धिक श्रम का सामाजिक तथा आर्थिक मूल्य भी शरीर-श्रम से कहीं अधिक आंकते हैं। आज संसार में जो भारी सामाजिक तथा आर्थिक असमानता खड़ी हो गई है और जिसने दुनिया में नाना प्रकार के दुःख पैदा किये हैं, उसका एक बड़ा कारण यह अनर्थकारी भेद है।

७. इस अनर्थ को टालने का एक उपाय तो यह है कि अंग-मेहनत या शरीर-श्रम का धर्म अथवा नियम निरपवाद माना जाय। प्रत्येक प्रौढ़ और सशक्त मनुष्य को किसी न किसी उत्पादक शरीर-श्रम द्वारा अपनी आजीविका चलानी चाहिए। ऐसा श्रम करने में बुद्धि का कम या अधिक उपयोग तो करना होता है। अपनी फुरसत के समय का और बुद्धि का उपयोग कमाई के लिए नहीं, बल्कि लोगों की सेवा के लिए किया जाय। भगवान ने मनुष्य को जो बुद्धि दी है, वह कमा खाने के लिए नहीं दी, बल्कि दूसरों की सेवा में उसका सदुपयोग करने के लिए दी है।

८. दूसरा उपाय यह है कि जितने धंधे समाज के लिए आवश्यक और कल्याणकारी हैं, उन सब धंधों में कमाई का प्रमाण लगभग समान और न्यायोचित होना चाहिए। किसान, बुनकर, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, चमार, भंगी (जिनका अलग धंधा रहे तो शहरों में रह सकता है), डॉक्टर, वकील, शिक्षक, सरकारी अधिकारी आदि सबकी रोजी लगभग समान होनी चाहिए।

९. तीसरे, समाज में मनुष्य की आबरू अथवा प्रतिष्ठा की माप, वह कौनसा धंधा करता है और उससे उसे कितनी रोजी मिलती है, इस पर से न निकाली जाय, बल्कि मनुष्य

कितनी लगन से और समाज-हित की कैसी भावना से अपना धंधा अथवा अपना काम करता है और स्वयं कैसा जीवन बिताता है, इस पर से निकाली जाय।

१०. इस दिशा में बढ़ने का पहला महत्त्वपूर्ण कदम यह है कि अपनी आवश्यकताओं को और निजी परिग्रह को जहाँ तक बने हम घटाते ही रहें, और मल-मूत्रादि की उचित व्यवस्था के काम में तथा किसी महत्त्व के उत्पादक काम में निष्काम भाव से और यज्ञ-बुद्धि से नियमित श्रम करके अपना योगदान देते रहें।

११. इसके लिए भारतवर्ष की आज की स्थिति में कताई को तथा मल-मूत्र साफ करके उसकी योग्य व्यवस्था को आश्रम में यज्ञकर्म माना गया है। आगे इस पर अधिक विचार किया गया है।

९. स्वदेशी

१. शरीर-श्रम अथवा अंग-मेहनत के सिद्धान्त में से ही स्वदेशी-धर्म का जन्म होता है।

२. अस्तेय और अपरिग्रह के आदर्श में माननेवाला मनुष्य दूसरे की मेहनत का उपयोग लाचारी की हालत में ही करेगा।

अपनी रसोई बनाना, कपड़े धोना, मल-मूत्र साफ करना, बरतन माँजना, हजामत बनाना, झाड़ू लगाना आदि अपने नित्य के निजी काम खुद न करने में या दूसरों से कराने में मान अथवा प्रतिष्ठा है, ऐसा समझकर वह दूसरों से ये काम नहीं करायेगा। लेकिन अपनी अशक्ति के कारण अथवा प्रेम के कारण, अथवा अपने साथियों के सहयोग से शुरू किये गये कामों में सुविधा की दृष्टि से उत्पन्न श्रम-विभाग के कारण वह ऐसी सेवा का स्वीकार करेगा। इसमें अमुक काम बड़ा, अमुक छोटा, अमुक काम करनेवाला केवल अपने काम के प्रकार के कारण ही सम्मान के योग्य और दूसरा तुच्छ, इस प्रकार के भाव की गंध भी नहीं होगी।

३. ऊपर के सूत्र में दिया गया सिद्धांत आदर्श हुआ। साथीपने की इस भावना का विस्तार करने से और दुनिया में व्यवहार की जो रीति प्रत्यक्ष प्रचलित है, उसका विचार करने से पता चलता है कि अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कूटुम्ब अथवा साथियों के साथ ही सहकारी कार्य-विभाजन से काम बनता नहीं, बल्कि पड़ोसियों और ग्रामवासियों के साथ भी सहकार और कार्य-विभाजन करना पड़ता है। स्वदेशी-धर्म की उत्पत्ति इसीमें से हुई है।

४. स्वदेशी-व्रत निरे स्वदेशाभिमान के विचार में से उत्पन्न नहीं हुआ। वह तो समाज के प्रति अपने धर्म का विचार करने से उत्पन्न होता है। समूचे विश्व के साथ बन्धुत्व की भावना के लिए हम प्रयत्नशील भले रहें, फिर भी जिन पड़ोसियों के बीच हमारा जीवन रात-दिन बीतता है और जिन के साथ अनेक कारणों से हमारे सम्बन्ध जुड़े हैं और ,जुड़ते

रहते हैं, हमारा पहला व्यवहार उन्हींके साथ होना इष्ट है। इस प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहार की अवगणना करके विश्व-बन्धुत्व सिद्ध नहीं हो सकता; जो होगा, केवल दिखावा ही होगा।

५. स्वदेशी-व्रत का पालन करनेवाला नित्य अपने आसपास निरीक्षण करेगा और जहाँ-जहाँ पड़ोसी की सेवा शक्य होगी, वहाँ-वहाँ उसे करके रहेगा। अपने लिए आवश्यक वस्तु यदि पड़ोसी के हाथ की तैयार की हुई मिलती है, तो दूसरी को छोड़कर वह उसीको लेगा, फिर भले स्वदेशी-व्रतधारी उसे सुधारने का अथवा सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। स्वदेशी वस्तु के खराब होने से वह कायर होकर परदेशी वस्तु बरतने नहीं लगेगा।

६. लेकिन स्वदेशी का सच्चा अर्थ समझनेवाला बाप के कुएँ में डूब नहीं मरेगा। जो वस्तु स्वदेश में बन नहीं सकती अथवा बड़ी कठिनाई से ही बन सकती है, परदेश के द्वेष के कारण उसे अपने देश में बनाने बैठना स्वदेशी-धर्म नहीं है। स्वदेशी-धर्म का पालन करनेवाला कभी परदेशी का द्वेष नहीं करेगा। स्वदेशी संकुचित धर्म नहीं है, बल्कि प्रेम में से अहिंसा में से उत्पन्न होनेवाला विशाल और उदार धर्म है।

७. लेकिन संभव है कि केवल राष्ट्रीयता के कारण उत्पन्न स्वदेशी का विचार परदेशियों के अहित के प्रति दुर्लक्ष्य करे और उनका अहित करने का अवसर भी खोज़े। धर्मरूप स्वदेशी स्वराष्ट्र का कल्याण सिद्ध करते हुए मी पर-राष्ट्र का अकल्याण न तो चाहेगा और न करेगा ही।

८. स्वदेशी-धर्म इस युग का महान धर्म है। आज व्यापार-उद्योग में आगे बढ़े हुए देश और एक देश में भी व्यापार-उद्योग में आगे बढ़े हुए वर्ग दूसरे पिछड़े हुए देशों और वर्गों का शोषण कर रहे हैं; और इन शोषण करनेवाले देशों और वर्गों में भी अन्दर ही अन्दर जो घातस्पर्धा चल रही है, उसके कारण दुनिया में आज सब कहीं युद्ध की स्थिति खड़ी हुई दिखती है। दलित और शोषित वर्गों तथा देशों के लिए इससे बचने का एकमात्र उपाय स्वदेशी-धर्म ही है।

१०. अभय

१. जो मनुष्य अपने मन के विकारों के अलावा दूसरी आपत्तियों से डरता है, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसी कारण दैवी सम्पत्तियों में अभय पहला प्राप्त करने योग्य गुण है।

२. मौत, परेशानियाँ, धननाश, मारकाट, जुल्म और अत्याचार, मानहानि, लोकनिन्दा, काल्पनिक भ्रम, पारिवारिक क्लेश अथवा परिवार के लोगों का दुःख—इन और ऐसे अनेक कारणों से साधारणतया मनुष्य बराबर डरता ही रहता है। डरनेवाला मनुष्य धर्माधर्म का गहरा विचार करने की हिम्मत कर ही नहीं सकता। वह न तो सत्य की खोज़ कर सकता है, न खोज़े हुए सत्य पर दृढ़ रह सकता है। इस प्रकार उससे सत्य का पालन नहीं होता।

३. मनुष्य के लिए डरने योग्य वस्तु एक ही है: अपना विकारी चित्त। चाहे ईश्वर का डर कहो, चाहे अधर्म का डर कहो अथवा अपने विकार-रूपी शत्रुओं का डर कहो, तीनों एक ही हैं। यदि विकार न हो, तो अधर्म न रहे; और अधर्म न रहे, तो 'ईश्वर का डर' जैसे शब्दों का प्रयोग ही न करना पड़े।

११. नम्रता

१. नम्रता के गुण को अहिंसा का ही एक अंश कह सकते हैं। जहाँ अहंकार है वहाँ नम्रता की कमी है। अहंकारी सर्वात्मभाव नहीं रख सकता, इसलिए उसकी अहिंसा में कमी आती है।

२. मैं भी कुछ हूँ मुझ में भी कुछ विशेषता है, ऐसा शरीर, मन, बुद्धि, विद्या, कला, चतुराई, पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, उदारता, व्रत-पालन अथवा स्वयं विनयादि गुणों का बराबर भान बना रहना और फलत: अपने अस्तित्व को इतना भारी मानना मानो कोई बोझा उठाकर चल रहे हों, अहंकार है। इन बातों का कम से कम भान होना-जैसा अपने शरीर के स्वस्थ अवयवों के विषय में होता है—इसीका नाम शून्यवत् स्थिति अथवा नम्रता है |

३. ऐसी नम्रता प्रयत्नपूर्वक सीखी नहीं जा सकती, बल्कि अनेक सदगुणों और विचारमय जीवन के परिणाम-स्वरूप वह स्वभाव का अंग बन जाती है। नम्र मनुष्य को अपनी नम्रता का भान भी नहीं होता।

४. अकसर प्रकट नम्रता के मूल में सूक्ष्म और तीव्र अभिमान छिपा रहता है। वह नम्रता नहीं।

५. अपनी मर्यादाओं को समझना और उन्हीं में रहना, यह भी नम्रता का एक आवश्यक लक्षण है।

६. नम्र मनुष्य संसार के सब कामों को कर सकने की शेखी न बघारे, बल्कि अपनी मर्यादा को अंकित करें और जब तक सफलता न मिले तब तक उसके बाहर पैर न रखे।

७. सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि व्रतों का साधक इनके पालन में यदि यह समझ ले कि आदर्श की तुलना में उसकी शक्ति कितनी अल्प है, तो वह सहज ही नम्र बनकर रहें।

८. एक ओर वह सत्य, अहिंसादि में विद्यमान शक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धा कम न होने दे और दूसरी ओर उनकी पराकाष्ठा तक पहुँचने की अपनी अल्पशक्ति को देखकर

निराश न हो; बल्कि नम्रता पूर्वक अपनी मर्यादा समझकर इन सबको जीवन में उतारने का प्रयत्न बराबर करता रहे।

९. नम्र मनुष्य आदर्शों तक पहुँचने की अपनी कमी के प्रति अंधा न रहे। वह अपनी उस कमी को निष्कपट भाव से स्वीकार करें, पर उसका बचाव करने के लोभ में नहीं पड़ें।

१०. शून्यवत् बनकर रहना नम्रता की पराकाष्ठा है। शून्यवत् बनकर रहने का अर्थ है सबकी सेवा के लिए तत्पर रहना, बदले की अथवा उपकार की आशा न रखना; सुख-सुविधा प्राप्त करने में सबसे पीछे रहना और कष्ट सहन करने में सबके आगे रहना। शून्यवत् रहनेवाला कभी अपने अधिकार का विचार नहीं करता, सदा कर्तव्य में ही निमग्न रहता है।

१२. व्रत-प्रतिज्ञा

१. व्रत का अर्थ है जो आचरण हमें सत्य विचार का अनुसरण करनेवाला लगा हो उस पर अटल भाव से डटे रहने की और उसका विरोधी आचरण कभी न करने की प्रतिज्ञा।

२. इस अटलता में जितनी ढिलाई आयेगी, सत्य की पहचान में उतनी कमी रह जायेगी।

३. सदा सत्यरूपी परमात्मा में ही स्थित रहने के लिए अर्थात् मन-वचन-कर्म से सत्यनिष्ठ ही रह सकने योग्य दशा को पहुँचने के लिए इस प्रकार की प्रतिज्ञाएँ आवश्यक हैं।

४. असावधानी के कारण, कुसंगति के कारण अथवा पहले की कुटेवों या कुसंस्कारों के कारण, मन किये हुए निश्चयों पर स्थिर नहीं रह पाता; अतएव उसे व्रतरूपी बेड़ी से बाँध लेना उसको स्थिर करने का अच्छा उपाय है।

५. स्पष्ट ही है कि जो आग्रह, विचार, वाणी या कर्म सत्य हो, व्रत उसीका हो सकता है। असत्य आग्रह, असत्य विचार, असत्य वाणी अथवा असत्य कर्म करने का व्रत नहीं लिया जा सकता। यदि लिया हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। व्रत में ऊर्ध्वगमन है, परिश्रम है। असत्य अथवा भोगादि में वह हो नहीं सकता। इसलिए भोग भोगने का व्रत नहीं होता।

६. यदि लिया हुआ व्रत असत्य न हो, तो वह छोड़ा ही नहीं जा सकता। उसका पालन करने में जो भी कठिनाइयाँ आवें, उन्हें सहन करना ही चाहिए।

१३. उपासना-प्रार्थना[१]

१. उपासना का अर्थ है परमेश्वर के पास बैठना। बड़ों के पास बैठने का अर्थ है तद्रूप बनना। परमेश्वर अर्थात् सत्य। अतएव सत्यरूप बनना उपासना है। सत्यरूप बनने की तीव्र इच्छा करना, उसके लिए भगवान से बिनती करना प्रार्थना है।

२. सत्यरूप बनने का अर्थ है निर्विकार बनना। निर्विकारी बनने के लिए विकारी विचार भी न उठने देना। मन कभी खाली नहीं रहता। वह या तो विकारी विचारों में रमेगा अथवा सत्य के प्रति बढ़ेगा। राम-कृष्णादि सत्य की मूर्तिरूप हैं। इसलिए उनका ही स्मरण नाम-स्मरण है। यदि यह स्मरण हृदय से हो, तो स्मरण करनेवाला तद्रूप बनकर ही रहे।

३. उपासना बुद्धि का नहीं, श्रद्धा का विषय है। उपासना करते-करते शुद्धता आती ही है—ऐसी श्रद्धा रखकर नित्य उपासना करनी ही चाहिए। जिस प्रकार अन्नादि से शरीर का पोषण होता है, उसी प्रकार उपासना से आत्मा पुष्ट होती हैं।

४. सत्यरूप ईश्वर सब में बसा हुआ हैं, इसलिए जीवमात्र के प्रति एकता सिद्ध करनी ज़रूरी है। इस कारण उपासना व्यक्तिगत और सामुदायिक भी हो सकती है।

५. जीवमात्र के साथ ऐक्य सिद्ध करने का अर्थ है उसकी सेवा करना। अतएव निष्काम सेवा भी उपासना ही मानी जायँगी।

---

१. यह प्रकरण स्वयं गांधीजी ने लिखा है।

१४. व्रतों की साधना

१. गाय को बचाने के लिए असत्य बोला जाय या नहीं, साँप जैसे प्राणियों को मारा जाय या नहीं, स्त्री पर बलात्कार करनेवाले अत्याचारी को पशुबल से रोका जाय या नहीं, इस प्रकार की तार्किक पहेलियों में उलझकर व्रतों की साधना नहीं की जा सकती। ये गुत्थियाँ बुद्धि के रास्ते जब सुलझनेवाली होंगी, सुलझ जायेंगी। यदि हमने जीवन के नित्य के और साधारण प्रसंगों में व्रतों की साधना भलीभांति की होगी, तो कठिन अवसरों पर स्वयं हमें क्या करना चाहिए, इसका पता अपने-आप चल जायेगा।

२. नित्य के और साधारण प्रसंग कुछ इस प्रकार क हाते हैं :

(क) असत्याचरण के: किसी को खराब मानते हुए भी अच्छा बताना, बड़ या अच्छे कहलाने की इच्छा से जो गुण अपने में नहीं हैं, उन्हें अपने में दिखाने का ढोंग करना, बोलने में अतिशयोक्ति से काम लेना, किये हुए दोष जिस के सामने प्रकट करने चाहिए उससे छिपाना, साथी के अथवा अधिकारी के प्रश्न के उड़ाऊ जवाब देना, जो कहने योग्य है उसे छिपाना, विश्वासघात करना, दिया हुआ वचन तोड़ना आदि।

(ख) हिंसा के: किसीका अपमान करना, किसी को धिक्कारना, बूरी चीज औरों को देना तथा अच्छी खुद रखना, खुद कामचोरी करके उसका बोझ साथी पर डालना, पड़ोसी के या साथी के दुःख या बीमारी में सहानुभूतिशील बनने में चूकना, अपने पास होते हुए भी भूखों और प्यासों को अन्न-पानी न देना, अतिथि का सत्कार न करना, मजदूर के साथ तुच्छतापूर्वक बोलना और उस पर बिना सोचे काम लादते रहना, जानवर को आर, लकड़ी, गाली आदि से पीड़ा पहुँचाना, भोजन में चावल कच्चे रह गये, दाल में नमक अधिक हो गया साग रुचा नहीं, ऐसी न-कुछ-सी बातों पर खीझना, आदि-आदि।

यही बात दूसरे व्रतों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए |

३. ब्रह्मचर्य के पालन में नीचे लिखी सूचनाएँ उपयोगी हो सकती हैं |

(क) लड़कों और लड़कियों का पालन-पोषण सादे और सहज ढंग से इस धारणा के साथ करना कि वे जीवनभर निर्मल रहनेवाले हैं।

(ख) हर किसी को मिर्च-मसालों और गरम मसालों का त्याग करना चाहिए, चरबीवाली भारी खुराक, भारी मिष्टान्न, मिठाई और तली हुई चीजें खाना छोड़ देना चाहिए।

(ग) पति-पत्नी को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए और एकान्त टालना चाहिए।

(घ) शरीर और मन दोनों को सतत सत्कार्यों में लगाये रखना चाहिए।

(ङ) रात जल्दी सोने और जल्दी उठने के नियम का पालन कठोरतापूर्वक करना चाहिए।

(च) किसी भी प्रकार का बीभत्स और हलका साहित्य नहीं पढ़ना चाहिए। मलिन विचारों की दवा निर्मल विचार हैं।

(छ) नाटक, सिनेमा और मनोविकारों को भड़कानेवाले ऐसे अन्य तमाशे नहीं देखना चाहिए।

(ज) स्वप्नदोष से घबराना नहीं चाहिए। ऐसे समय स्वस्थ मनुष्य को ठंडे पानी से नहा लेना चाहिए; यह इसका सुन्दर से सुन्दर इलाज है। यह धारणा गलत है कि प्रसंगोपात स्त्री-संग करना स्वप्न-दोष से बचने का उपाय है।

(झ) सबसे महत्त्व की बात यह है कि किसी भी व्यक्ति को पति-पत्नी के बीच भी संयम कठिन हैं अथवा वह शरीर या मन के लिए हानिकारक है अथवा आरोग्य की दृष्टि से विषय-भोग आवश्यक है, इस प्रकार के अभिप्रायों में जरा भी विश्वास नहीं रखना चाहिए। उलटे हर किसी को यह मानकर चलना चाहिए कि संयम जीवन की साधारण और स्वाभाविक स्थिति है।

(ञ) विषय को जीतने का सुनहला नियम यह है कि नित्य उठकर पवित्रता और निर्मलता के लिए एकाग्र मन से प्रभु की प्रार्थना की जाय, रामनाम का अथवा ऐसे ही किसी और मंत्र का आधार लिया जाये |[१]

४. (क) प्रार्थना में सोना, आलस्य करना, बातें करना, ध्यान न रखना और विचारों को भटकने देना आदि प्रकारों से प्रार्थना भंग ही होती है। ऐसा अनिच्छा से होता हो, तो उसे रोकने के लिए प्रार्थना में जाने से पहले जाग्रत हो जाना, दतौन करना और ताजा रहने का निश्चय करना इष्ट है | इतने पर भी शरीर वश में न रहे तो बड़ों या छोटों को बिना शरमाये खड़े हो जाना चाहिए।

(ख) प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर बैठना ठीक नहीं। सीध तनकर बैठना और धीमे-धीमे श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए।

(ग) प्रार्थना में श्लोकों, भजनों आदि का उच्चारण और ध्वनि सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक वे याद न हो जायें, तब तक उन्हें जोर से न बोलकर मन ही में बोलना चाहिए। यह भी न सधे तो केवल रामनाम लेना चाहिए।

(घ) प्रार्थना में जो कुछ बोला जाता है उसका अर्थ समझ लेना चाहिए और उसका मनन करना चाहिए।

(ङ) व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों प्रकार की प्रार्थना महत्त्व की है। दोनों एक-दूसरी की पोषक हैं। व्यक्तिगत प्रार्थना की कीमत न समझने से सामुदायिक प्रार्थना में रस नहीं आता और व्यक्ति को सामुदायिक प्रार्थना का लाभ नहीं मिलता। अतएव हरएक को व्यक्तिगत प्रार्थना भी नियमित रूप से करनी चाहिए।

(च) प्रार्थना के दो समय तो स्पष्ट हैं, उठने के तुरन्त बाद और रात सोने से पहले। किन्तु यह नहीं मानना चाहिए कि व्यक्तिगत प्रार्थना के ये केवल दो ही समय हैं। अपनी प्रत्येक क्रिया में और प्रत्येक क्षण ईश्वर को साक्षी बनाना व्यक्तिगत प्रार्थना है। इसके लिए किसी खास मंत्र या भजन की ज़रूरत नहीं। इसमें तो चाहे जिस नामसे, चाहे जिस रीति से और किसी भी हालत में भगवान को याद करना है। प्रार्थना का आदर्श यह है कि हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच जायँ जहाँ हर सांस के साथ रामनाम निकले।

(छ) फिर भी हमें यह नहीं मानना चाहिए कि प्रार्थना में समय नष्ट होता है। उसके लिए समयकी ज़रूरत नहीं, बल्कि अमूर्च्छा की नित्य सावधानता और जागृति की तथा मलिनता के त्याग की आवश्यकता है।

---

१. इस विषय को और अधिक समझने के लिए हमारी 'संयम और संतति-नियमन' नामक पुस्तक पढ़िये।

खण्ड दूसरा: धर्ममार्ग

१. सर्वधर्म-समभाव

१. प्रत्येक युग में और प्रत्येक राष्ट्र में सत्य के तीव्र शोधक और लोक-कल्याण की अतिशय लगन रखनेवाले विभूतिमान पुरुष और संत उत्पन्न होते हैं | उस युग और उस राष्ट्र के दूसरे लोगों की तुलना में उन्हें सत्य का कुछ अधिक दर्शन हुआ होता है। उनका कुछ दर्शन तो सनातन सिद्धांतों का होता है और कुछ अपने युग की परिस्थिति में से उत्पन्न होता है। साथ ही यह भी होता है कि कुछ सिद्धांतों को उनके सनातन स्वरूप में समझ लेने पर भी व्यवहार में उनका आचरण करते समय उस युग और उस राष्ट्र की परिस्थिति से मेल खानेवाली मर्यादा में ही उन्हें उसकी पद्धति सूझे। इस सबके कारण ही संसार के अलग-अलग घर्मों का जन्म हुआ है।

२. इस तरह विचार करनेवाला मनुष्य किसी धर्म में सत्य का सर्वथा अभाव नहीं देखेगा और न वह किसी धर्म को सम्पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार करेगा। वह यह देखेगा कि सब धर्मों में परिवर्तन और विकास की गुंजाइश है। वह यह भी देखेगा कि यदि विवेकपूर्वक अनुसरण किया जाय, तो प्रत्येक धर्म उस-उस राष्ट्र का कल्याण कर सकता है और वह व्याकुल व्यक्ति को सत्य के दर्शन कराने में तथा शान्ति और समाघान कराने में समर्थ है।

३. ऐसा मनुष्य अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानने का अभिमान नहीं रखेगा और न यही मानेगा कि मनुष्य-मात्र को अपने उद्धार के लिए वही धर्म स्वीकार करना चाहिए। वह उसे छोड़ेगा भी नहीं और उसके दोषों की तरफ दर्लक्ष्य भी नहीं करेगा। जैसा आदर वह अपने धर्म के प्रति रखेगा, वैसा ही आदर वह दूसरे धर्मों और उनके अनुयायियों के प्रति भी रखेगा। वह हमेशा यही इच्छा रखेगा कि हरएक आदमी अपने-अपने धर्म के ही उत्तम से उत्तम सिद्धान्तों का ठीक-ठीक पालन करें और उसीके द्वारा अपने लिए श्रेय तथा शान्ति प्राप्त करें।

निन्दक बुद्धिवाला मनुष्य परधर्म में छिद्र ही खोज़ेगा। सत्य-शोधक प्रत्येक धर्म में सत्य के जिस अंश को विकसित देखेगा, उसका वह अंश वह ग्रहण कर लेगा। इस कारण सत्य-शोधक पुरुष प्रत्येक धर्म के अनुयायी को ऐसा ही लगेगा, मानो वह उसके ही धर्म का सच्चा सेवक हो। इस प्रकार सत्य-शोधक अपने जन्म-धर्म का त्याग किये बिना सब धर्मों का अनुयायी-सा प्रतीत होगा।

२. धर्म और अधर्म

१. सत्य-शोधक सब धर्मों के प्रति समभाव रखेगा, किन्तु अधर्म का तो वह विरोध ही करेगा; फिर वह अधर्म अपने या दूसरे के धर्म के नाम पर चलता हो अथवा स्वतंत्र रीति से ही क्यों न चलता हो।

२. चूँकि सब धर्मों में कुछ-न-कुछ अपूर्णता होती है, इसलिए प्रत्येक धर्म में धर्म के नाम पर अधर्म घुस जाता है। चूँकि वह धर्म के नाम पर घुसता है, इसलिए धर्म और अधर्म के बीच भेद करना कठिन हो जाता है, किन्तु भेद तो करना ही चाहिए।

३. किसी भी धर्म में जन्मे हुए प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र में दोष दीखने पर उन दोषों पर जोर देकर उस धर्म की निन्दा करना निन्दक की रीत है। लेकिन अगर ऐसे दोषों को दूसरों के लिए आचरण योग्य नियमों के रूप में रखा जाय, तो वह अधर्म है और उसका विरोध किया जा सकता है।

४. साधारणत: यह कहा जा सकता है कि जो आचार सत्यादि यम-नियमों के इस प्रकार विरोधी हैं कि उनसे उन-उन धर्मों के विकास का नहीं, बल्कि उनके भंग का पोषण होता है वे अधर्मरूप हैं। इसका निर्णय करना कठिन है, फिर भी भक्तिमान और विवेकी सत्य-शोधक को इसका मार्ग सूझ जाता है।

५. सत्य-शोधक सब कहीं अधर्म का विरोध करेगा, लेकिन इसके साथ ही वह अधर्मी व्यक्ति और अधर्म के बीच भेद करेगा। अधर्म का विरोध करते हुए भी वह अधर्मी व्यक्ति का द्वेष नहीं करेगा। चूँकि उसका विरोध सत्य और अहिंसामय साधनों द्वारा होगा, इसलिए उसमें द्वेष नहीं रहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि मौका आने पर वह ऐसे अधर्मी की सेवा-चाकरी करना भी नहीं चूकेगा। अधर्म का नाश करने के लिए वह असत्य, हिंसादि अधर्मयुक्त साधनों का उपयोग करके स्वयं अधर्म का आचरण कभी नहीं करेगा।

३. सत्याग्रह

१. इस प्रकार हम सत्याग्रह के तत्त्व पर आ पहुँचे। सत्याग्रह की छोटी परिभाषा यह हो सकती है कि सत्यादि घर्मों का स्वयं पालन करने का आग्रह रखना और सत्यादि साधनों द्वारा ही अधर्म का विरोध करना सत्याग्रह है।

२. विरोध करने में मुख्यतः अहिंसा के भंग की संभावना रहती है, इसलिए अहिंसा पर जोर देकर कहा जाता है कि अहिंसामय साधन से अधर्म का विरोध सत्याग्रह है। 'सत्याग्रह' के नाम से जिस प्रकारकी लड़ाई का प्रचार हुआ है, उसके शुद्ध प्रकार की ऐसी स्थूल व्याख्या की जा सकती है।

३. अधर्म के विरोध के लिए किये जानेवाले सत्याग्रह का विस्तृत विचार आगे होगा। यहाँ इतना ही कहना काफी होगा कि सत्यादि धर्मों का स्वयं पालन करने के आग्रह में जितनी सफलता प्राप्त हुई होगी, उतनी ही अधर्म के विरोध में सत्याग्रह करने की शक्ति प्रकट होगी और उसकी योग्य रीतियाँ सूझेंगी।

४. किन्तु ऐसी शक्ति की प्राप्ति सत्याग्रही जीवन का दूसरा और दीख पड़नेवाला फल माना जायेगा। यह दूसरा फल निकले या न निकले, इसका मुख्य फल तो ऐसे जीवन के परिणाम स्वरूप प्रकट होनेवाली सत्यरूपी परमेश्वर की पहचान ही है।

५. प्रत्येक मनुष्य का होनेवाला सत्य का दर्शन पूर्ण सत्य की तुलना में तो न्यूनाधिक अपूर्ण ही होता है। यह हो सकता है कि एक मनुष्य को जो सत्य प्रतीत होता हो, वह दूसरे को उतना सत्य प्रतीत न भी हो। इसलिए सत्य की शुद्ध उपासना करनेवाले को, सत्याग्रही बनने को इच्छा रखनेवाले को, दूसरों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता, नम्रता अथवा अहिंसा की वृत्ति रखनी चाहिए।

४. हिन्दू धर्म

१. हिन्दू के लिए हिन्दू धर्म पर्याप्त है। सत्य-शोधक को अपनी अध्यात्मिक उन्नति करने के लिए उस में से पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। (हिन्दू नाम विदेशियों का दिया हुआ है। जो हिन्दू धर्म के नाम से पहचाना जाता है, उसका मूल नाम मानव-धर्म अर्थात् मनुष्य-मात्र का धर्म है। इस धर्म का संशोधन नित्य ही होता रहता है। यह अनन्त है।)

२. सनातन हिन्दू धर्म के श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, संतों की संस्कृत अथवा प्राकृत वाणी आदि धर्मग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में अलग-अलग ऋषियों मुनियों, कवियों और विचारकोंने धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों को विविध रीति से समझाया हैं। इन सब वचनों की कीमत एकसी नहीं मानी जा सकती और इनमें से कुछ तो अग्राह्य तो लग सकते हैं। फिर भी नीर-क्षीर-विवेक से देखनेवाले जिज्ञासु के लिए उसकी धर्मवृत्ति का पोषण करनेवाला साहित्य इसमें से प्रचुर प्रमाण में मिल सकता है। असल में तो धर्म का सच्चा स्थान धर्मग्रंथ नहीं, बल्कि मानव-हृदय है। जैसे-जैसे हृदय संस्कारी बनता जाता हैं, वैसे-वैसे उस में धर्म का स्फुरण होता है।

३. इसी प्रकार शास्त्र का अर्थ प्राचीन काल के अनुभवियों के कहे हुए वचन नहीं, बल्कि उन देहधारियों के वचन हैं, जिन्हें आज अनुभवज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान हुआ है। शास्त्र नित्य मूर्तिमंत होते हैं। जो केवल पुस्तक में है, जिस पर अमल नहीं होता, वह या तो तत्त्वज्ञान नहीं होता, अथवा मूर्खता या पाखंड होता है। शास्त्र उसी क्षण अनुभवगम्य होना चाहिए। वह कहनेवाले के अनुभव की बात होनी चाहिये। वेद इसी अर्थ में नित्य हैं। बाकी सब वेद नहीं बल्कि वेदवाद है।

४. हिन्दू धर्म सिखाता है कि किसी भी मनुष्य को उसके लिंग, धर्म, जाति अथवा देश के कारण हीन या तुच्छ नहीं समझना चाहिए। संक्षेप में, वह समस्त मानव-जाति के प्रति बन्धुत्व और समानता की भावना रखना सिखाता है।

५. सनातन हिन्दू धर्म एक सच्चिदानन्द परमात्मा को ही मानता है और उसे मन-वाणी से परे बताता है। फिर भी सब कुछ परमात्मा-स्वरूप है इस सिद्धान्त के कारण और विभूति के सिद्धांत के सहारे हिन्दू धर्म में उपासक की रुचि के अनुसार अनेक प्रकार की कल्पनाओं और रूपकों द्वारा भिन्न-भिन्न आदर्शों को व्यक्त करनेवाले देवों और देवियों की तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों को अवतारी के रूप में सामने रखकर उनकी और सद्गुरु की उपासना करने की भी स्वतंत्रता हैं। सनातन हिन्दू धर्म की दृष्टि इन दो उपासनाओं के बीच विरोध नहीं देखती, बल्कि दोनों में मेल बैठाती है। यही कारण है कि सनातन हिन्दू घर्म में मूर्ति-पूजा का निषेध नहीं है।

६. सनातन हिन्दू धर्म पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है और मोक्ष को अन्तिम तथा श्रेष्ठ पुरुषार्थ मानता है, और उसके लिए यम-नियम, व्रत-संयम, तीर्थयात्रा आदि साधनों को मान्य करता है।

७. सनातन हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम-व्यवस्था को बड़े महत्त्व का स्थान प्राप्त है। यह भी कहा जा सकता है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था ही उसकी विशेषता है। इसलिए हिन्दू धर्म को वर्णाश्रम-धर्मक नाम से भी पहचाना जा सकता है। इसी प्रकार गौरक्षा भी इस धर्म का बड़े-से-बड़ा बाह्य स्वरूप है। किन्तु इन दोंनों का विचार आगे स्वतंत्र रूप से किया जायेगा।

८. 'वैष्णव-जन तो तेने कहीए' नामक भजन में दिये गये लक्षण सनातन हिन्दू धर्म के चिह्न हैं।

५. गीता-रामायण

१. हिन्दू धर्म में अनेक माननीय ग्रंथों के रहते हुए भी नित्य के और गहन अभ्यास तथा मनन के लिए संस्कृत में 'गीता' और हिन्दी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस' ये दो ग्रंथ सबसे अधिक महत्त्व के और साधारणत: पर्याप्त माने जा सकने योग्य हैं।

२. तत्त्वज्ञान और सूक्ष्म विवेचन के लिए 'गीता' और काव्यमय कथानकों के द्वारा साधारण मनुष्य भी समझ और पकड़ सकें इस प्रकार धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के निरूपण के लिए 'तुलसी रामायण' ये दो हिन्दू धर्म के बेजोड़ ग्रंथ हैं।

३. अनासक्तियोग गीता का ध्रुवपद हैं: अर्थात् कर्म के फल की अभिलाषा छोड़कर सतत कर्तव्य कर्म करते रहने का उपदेश ही गीता की अविस्मरणीय ध्वनि है। उसमें कर्ममात्र का निषेध नहीं किया है, न यही कहा है कि कर्म में विवेक नहीं करना है। उसमें दुष्कर्म का निषेध है और सत्कर्म भी फलासक्ति छोड़कर करने की विधि बताई है। सत्य, अहिंसा आदि के सम्पूर्ण पालन के बिना इस योग की सिद्धि असंभव है।

४. गीता का पठन, वाचन और मनन कभी पुराना नहीं पड़ता। उसका जितना विचार करते हैं और तदनुसार उसे जितना आचराण में उतारते हैं, वैसे-वैसे उसकी पुनरावृत्ति में से नया-नया बोध मिलता ही रहता है; यही नहीं, बल्कि गीता में आये हुए महाशब्दों के अर्थ प्रत्येक युग में बदलते और विस्तार पाते रहेंगे।

५. 'गीता', 'तुलसी रामायण' अथवा धर्मशास्त्र माने जानेवाले किसी भी ग्रंथ का प्रत्येक वचन यदि विवेकबुद्धि और अन्तरात्मा को मान्य न हो सकता हो, तो उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

खण्ड तीसरा: समाज

१. वर्णाश्रम

१. जैसा कि ऊपर कहा गया है, हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म का सच्चा नाम वर्णाश्रम-धर्म है। वर्णाश्रम-व्यवस्था इस धर्म की विलक्षणता बतलाती है। इसका मूल वेद में है।

२. प्रत्येक धर्म की अपनी कुछ-न-कुछ विशेषता होती ही है। हिन्दुओं ने जिस धर्म का पालन किया है, यदि उसे कोई विशेष और सूचक नाम दिया जा सकता है, तो वह निश्चय ही वर्णाश्रम-धर्म है। इस कारण कोई हिन्दू वर्णाश्रम की उपेक्षा नहीं कर सकता।

३. वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज-रचना की कोई मनमानी व्यवस्था नहीं है, बल्कि उसके मूल में मानव-मात्र को लागू होनेवाले नियमों का अनुभव जन्य ज्ञान विद्यमान है।

४. अतएव यद्यपि वर्णश्रम-धर्म की शोध हिन्दू धर्म में हुई है, फिर भी उसके मूल में जो सिद्धान्त है वह केवल हिन्दुओं को लागू होता है और दूसरों को नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। भले दुनिया आज उसे स्वीकार न करें। उतना ही वह खोयेगी। आज नहीं तो कल दुनिया को उसे स्वीकार करना ही होगा।

५. लेकिन आज तो वर्ण और आश्रम दोनों ही का लोप हो चुँका है। आश्रम का नाम और कर्म दोनों से; वर्ण का नाम से हुआ न मानें, तो भी कर्म से तो हुआ ही है।

हम दोनों का क्रमश : विचार करेंगे।

२. वर्णधर्म

१. वर्ण का अर्थ है धन्धा। संक्षेप में वर्णधर्म के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, जो मनुष्य जिस परिवार में जन्म ले उसके धन्धे को, यदि वह नीति के विरुद्ध न हो, वह धर्म-भावना से करें; और ऐसा करते हुए उसे जो अर्थ-प्राप्ति हो, उसमें से साधारण आजीविका के लिए जितना आवश्यक है उतना ही रखकर बाकी का उपयोग सार्वजनिक कल्याण के लिए करें।

२. वर्ण धर्म है, अधिकार नहीं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वर्ण को अपने-अपने कर्म का पालन धर्म समझकर करना चाहिए। उदर-पोषण उसका यत्किंचित् फल है। वह सुलभ हो, चाहे न हो, जो समझदार है उसे तो अपने धर्म में रत रहना ही है।

३. साथ ही, इसका अर्थ यह है कि वर्ण-वर्ण के बीच ऊँच-नीच के भेद न हों, बल्कि वर्णमात्र समान हों।

४. वर्ण का निर्णय साधारणत: जन्म से किया जाता है; अमुक हद तक कर्म से भी किया जा सकता है। आम तौर पर मनुष्य को अपना पैतृक धंधा करने की कला विरासत में मिलती है। यह नियम सर्वव्यापक है, और जाने-अनजाने सबकोई इसका पालन न्यूनाधिक रूप से करते हैं। हिन्दू पूर्वजों ने कठिन तपश्चर्या द्वारा इस महान नियम की खोज़ की और इसका यथाशक्ति पालन किया। यदि दुनिया इस धर्म अथवा नियम का अनुसरण करें, तो सब कहीं संतोष फैले, मिथ्या प्रतिस्पर्धाओं का अन्त हो, ईर्षा मिटे, कोई भूखों मरे ही नहीं, जन्म-मरण का सन्तुलन बना रहे और बीमारियाँ दूर हों।

५. इस धर्म-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्म को पहचानने में और उसकी पहचान कराने में समय बिताये और यह माने कि भगवान उसे उसकी आजीविका देता है। क्षत्रिय प्रजा-पालन का धर्म निबाहे और उसके सिलसिले में वह अपनी आजीविका के लिए मर्यादित द्रव्य ले। वैश्य प्रजा के कल्याण के लिए खेती, गोपालन या व्यापार करें; जो अर्थ-

लाभ हो उसमें से आजीविका के लिए आवश्यक लेकर बाकी का उपयोग लोक-कल्याण में करें। इसी प्रकार शूद्र भी अपना धर्म समझकर ही परिचर्या करें।

६. इस व्यवस्था में जिसके पास जो सम्पत्ति होगी, उसका वह सारी प्रजा की ओर से संरक्षक होगा; कभी अपने को उसका स्वामी नहीं मानेगा। राजा अपने महल का अथवा प्रजा से वसूल किये गये कर का मालिक नहीं बल्कि संरक्षक है। अपने पेट के लिए जितना ज़रूरी है उतना लेकर बाकी की रकम का उपयोग जनता के हित में करने के लिए वह बंधा हुआ है। मतलब यह कि अपनी कार्य-दक्षता से उसमें वृद्धि कर के वह किसी-न-किसी प्रकार से उसे प्रजा को वापस लौटायेगा। वैश्य भी यही करेगा।

७. शूद्र का तो कहना ही क्या? उसके पास कभी कोई सम्पत्ति रहेगी ही नहीं; इसलिए जो शूद्र केवल धर्म समझकर परिचर्या ही करता है और जिसे मालिक बनने का लोभ छूता तक नहीं, वह हजारों वन्दनों के योग्य है और सर्वोपरि है।

८. किन्तु शूद्र के इस धर्मकी स्तुति तभी शोभा देगी, जब तीनों वर्ण अपने को जनता का सेवक मानते होंगे और अपने पास की सम्पत्ति का रक्षण सार्वजनिक उपयोग के लिए करते होंगे; शूद्र का धर्म उस पर लादा तो जा ही नहीं सकता।

९. वर्ण को धर्म का नाम देकर उसके शोधक ने यह सूचित किया है कि उसके पालन में बलात्कार की गंध भी नहीं होनी चाहिए। यह समझ कर कि इस धर्म के पालन से ही संसार टिका रह सकता है, संसार को इसका पालन करना ही है, प्रत्येक को अपने-अपने वर्णधर्म का पालन करते हुए मर-मिटना है; दूसरों से जबरदस्ती पालन नहीं कराना है।

१०. इस प्रकार का वर्णधर्म समता का 'धर्म' है, केवल साम्य-वाद' नहीं। वर्णधर्म के अनुसार सब धन्धों की प्रतिष्ठा और कीमत समान मानी जायेगी। राजा और राजा के दीवान से लेकर भंगी तक सबको समान मिलेगा। जहाँ वर्णधर्म का पालन होता हैं, वहाँ तीन वर्ण अधिक कमायें और शुद्र कम कमाये अथवा क्षत्रिय महलों में निवास करें, ब्राह्मण भिक्षुक

के नाते कुटिया में रहें, वैश्य बड़ी बड़ी कोठियाँ बनाकर रहे और शूद्र बिना घरबार के गुलाम बनकर रहे, इस प्रकारकी दयाजनक स्थिति हो ही नहीं सकती, होनी नहीं चाहिए |

११. आज इस प्रकार का वर्णधर्म लुप्त हो चुका है। कुछ लोग अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य मानते ज़रूर हैं; पर शूद्र कहलान में सब लज्जा का अनुभव करते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि वर्ण नाममात्र का रह गये हैं। फिर भी यदि हम व्यवहार में 'वर्ण' संज्ञा रख सकते हैं, तो उसके अनुसार हम सब शूद्र कहलाने योग्य हैं। असल में तो कहना यह चाहिए कि हम शूद्र भी नहीं हैं। क्यों कि शूद्र वर्ण भी एक धर्म है; अर्थात् स्वेच्छा से स्वाकार करने की वस्तु है और उसमें लज्जा के लिए कोई स्थान नहीं हीं हो सकता। ऐसी स्थिति तो आज है नहीं, इसलिए केवल काल के वश होकर हम शूद्रता को अर्थात् दासत्व को प्राप्त हुए हैं।

१२. जो मनुष्य जिस वर्ण के कर्म करता है, वह उस वर्ण का माना जाता हैं। वर्णों के करने योग्य कर्म तो होते ही रहते हैं। इसलिए यदि यह कहा जाये कि वर्णधर्म का लोप नहीं हुआ है, तो वह ठीक नहीं होगा। क्यों कि जहाँ कर्म की मिलावट होती है, जहाँ सब स्वेच्छा से अपनी-अपनी रुचि का कर्म करते हैं, वहाँ वर्णधर्म का पालन नहीं होता, बल्कि वर्ण का संकर ही होता है।

१३. वर्ण में ऊँच-नीच के भाव के लिए कोई स्थान ही नहीं है। किन्तु लम्बे समय से हिन्दू धर्म में धर्म के नाम पर ऊँच-नीच के भेद घुस गये हैं। यह वर्णधर्म का वक्र रूप है, विकराल रूप है। संसार में आज जो कलह चल रहा है, उसका मुख्य कारण ऊँच-नीच का भेद हीं है। वर्णधर्म के पालन से इस कलह अथवा युद्ध का निवारण हो सकता है।

१४. किन्तु जहाँ तीन वर्ण अपने को ऊँचा मानकर शूद्र को नीचा मानते हैं, वहाँ यदि शूद्र उनसे ईर्षा रखते हैं और जिस सम्पत्ति को वे दबाकर बैठ गये है उसका बंटवारा कराना चाहते हैं, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। दुःख की बात भी नहीं।

१५. आज वर्णधर्म का पालन रोटी-बेटी के व्यवहार की मर्यादा में सीमित हो गया है। मनुष्य के व्यवहारों में मर्यादा का अर्थात् खाद्याखाद्य-विवेक का और बेटा-बेटी के लेन-

देन में अमुक नियमों का स्थान अवश्य है। लेकिन इन दो बातों पर ही वर्णधर्म अवलम्बित नहीं है और इन्हें वर्णधर्म के साथ जोड़ देने से हिन्दू धर्म की भारी हानि हुई है।

१६. वर्ण और आजकल की जातियों के बीच जमीन-आसमान का अन्तर है। आजकल की जातियाँ और उपजातियाँ लुप्त वर्ण-व्यवस्था के खंडहरों-जैसी हैं। उनके मूल में वर्ण-भेद के समान कोई व्यापक नियन नहीं है, बल्कि जातियाँ आकस्मिक कारणों से और रूढ़ि से उत्पन्न प्रथारूप हैं। यह वर्ण-व्यवस्था नहीं, बल्कि जाति-बंधन है। इसमें हिन्दू जाति की हानि है, इसलिए इसका नाश होना आवश्यक है।

१७. शास्त्रों में चार वर्ण गिनाये गये हैं। पर वर्ण चार ही होने चाहिए, यह वर्णधर्म का कोई अनिवार्य अंग नहीं। वर्णधर्म के पुनरुद्धार का विचार करते समय शायद ऐसा मालूम हो कि वर्ण चार नहीं, बल्कि अधिक या कम रखना ज़रूरी है।

३. आश्रम

१. आश्रम-व्यवस्था भी प्रकृत्ति के नियमों को व्यवस्थित रीति से आचरण में लाने के प्रयत्न में से जन्मी है।

२. सब वर्णों के लोगों को सब आश्रमों का अधिकार हैं।

३. चारों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास एक-दूसरे से इस प्रकार संलग्न हैं कि एक के बिना दूसरे का पालन हो ही नहीं सकता।

४. मनुष्य जन्म से ही ब्रह्मचर्याश्रमी है। इस कारण से यही आश्रम नितान्त अनिवार्य माना जा सकता है। इस आश्रम को कभी न छोड़ने का अर्थात् यावज्जीवन ब्रह्मचर्य से रहने का अधिकार जो चाहे उसे है। कम-से-कम पुरुष को २४ वर्ष और स्त्री को १८ वर्ष तक पवित्रता-पूर्वक इस आश्रम का सेवन करना चाहिए।

५. दूसरे सब आश्रमों की उज्ज्वलता का आधार इस आश्रम में बिताये जानेवाले पवित्र और संयमी जीवन पर है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से पहला आश्रम ही मुख्य आश्रम है। इस आश्रम के लोप से हिन्दू धर्म की और समाज की बड़ी हानि हुई है। इस आश्रम को तेजस्वी बनाना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है। किन्तु आज बिरला ही कोई इस आश्रम का पालन करता है।

६. गृहस्थाश्रम के विवाह-धर्म का विचार दूसरे प्रकरण में होगा। धर्म के मार्ग से प्रजा की सम्पत्ति बढ़ाने का विशेष भार इस आश्रम पर है।

७. यह विचार भूल भरा है कि गृहस्थाश्रम भोग के लिए है। हिन्दू धर्म की सारी व्यवस्था संयम के पोषण के लिए ही है। इसलिए भोग कभी कर्तव्यरूप नहीं हो सकता। गृहस्थाश्रम में भी सादगी और संयम दूषण नहीं, भूषण ही हैं।

किन्तु संयम के आदर्श का पोषण करते हुए भी कुछ लोग भोगों के प्रति अपने आकर्षण को रोक नहीं पाते। गृहस्थाश्रम के धर्म इन भोगों की मर्यादा को और इनके सेवन की विधि को सीमित बना देते हैं।

८. आज गृहस्थाश्रम के नाम से जो कुछ चल रहा है, वह अधिकतर स्वेच्छाचार का पोषण है।

९. स्वेच्छाचारी जीवन के अन्त में वानप्रस्थ अथवा संन्यास को असंभव समझना चाहिए।

१०. भोगों को घटाते-घटाते, उनका मोह छोड़ने की शक्ति के पुनःप्राप्त होने पर, गृहस्थ दम्पती ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके अथवा उसे फिर सजीवन करके वानप्रस्थ बनते है। जिन्हों ने अपने राग-द्वेषों पर पूरा प्रभुत्व प्राप्त नहीं किया है, किन्तु जो इंद्रियों को रोक सकते हैं और रोककर बैठे हैं, उन्हें वानप्रस्थ कहा जा सकता है। कहना होगा कि आज इस आश्रम का लोप ही हो चुका है।

११. जिसने राग-द्वेष को पूरी तरह जीता है, जो काया, वाचा और मनसा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि यमों का पालन करता है, उसे सन्यासी कहा जा सकता है। ऐसा संन्यासी निष्काम भाव से सेवा करता हुआ अपने निर्वाह के लिए भिक्षा का आधार लेता है।

१२. बाह्य वेश के साथ आश्रमों का कोई सम्बन्ध नहीं।

४. स्त्री-जाति

१. स्त्री और पुरुष में प्राकृतिक भेद है। इस कारण नित्य के जीवन में उन्हें जिन कर्तव्यों का पालन करना होता है, उनमें भी भेद हो सकते हैं; फिर भी इन दोनों में कोई ऊँचा या नीचा नहीं है, बल्कि दोनों समाज के समान महत्त्ववाले तथा प्रतिष्ठापात्र अंग हैं।

२. पुरुष स्त्री-जाति को एक ओर से दबाता है, अज्ञान रखता है, उसकी उपेक्षा और निन्दा करता है। दूसरी ओर से उसे अपने भोगों को तृप्त करने का साधनमात्र मानता है और इसके लिए वह स्त्री को गुड़िया की तरह अपनी इच्छा के अनुसार सजाता है, उसकी खुशामद करता है और इस प्रकार स्त्री की भोगवृत्ति को भड़काने का प्रयत्न करता है। इन दोनों प्रकारों से केवल स्त्री-जाति का ही नहीं, बल्कि स्वयं पुरुष का और समूचे समाज का भारी अधःपतन हुआ है।

३. स्त्री-जाति के प्रति तुच्छता का जो भाव पुष्ट हुआ है, वह हिन्दू समाज में घुसी हुई एक सड़ांध है, धर्म का अंग नहीं। धार्मिक पुरुष भी इस प्रकार के तिरस्कार-भाव से मुक्त नहीं हैं; इससे पता चलता है कि यह सड़ांध कितनी गहरी चली गई है।

४. जो माता-पिता पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा में लड़कों और लड़कियों के बीच भेद करके लड़की के प्रति अपने कर्तव्य का पूरा पालन नहीं करते, वे पापाचरण करते हैं।

५. वयस्क होने पर पुरुष जितनी स्वतंत्रता का अधिकारी है, उतनी ही स्त्री भी है।

६. स्त्री अबला नहीं है; यदि वह अपनी शक्ति को समझे, तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता बनकर जिस प्रकार बालक को तैयार करती है और पत्नी बनकर जिस प्रकार पति का मार्गदर्शन करती है, अधिकतर पुरुष वैसे ही बनते हैं।

७. स्त्री-जाति में जो अपार शक्ति रही है, उसका कारण उसकी विद्वत्ता अथवा उसका शरीर-बल नहीं है; बल्कि उसका मुख्य कारण उसमें पाई जानेवाली तीव्र श्रद्धा, वेगवंती भावना और अत्यन्त त्याग की तथा सहन करने की शक्ति है। स्त्री स्वभाव से ही कोमल और धार्मिक वृत्ति की है; और जहाँ पुरुष श्रद्धा खोकर ढीला पड़ जाता है अथवा

ग़लत हिसाब करने में उलझ जाता है, वहाँ स्त्री धीर बनकर दृढ़ गति से सीधे मार्ग पर जाती है।

८. संसार में धर्म की रक्षा मुख्यतः स्त्री-जाति के कारण हुई है।

९. यदि स्त्री-जाति अपने बल और अपने कार्यक्षेत्र की दिशा को भलीभांति समझ लें, तो वह अपने को कभी पुरुष की आश्रित न माने, और पुरुष का तथा उसके कार्यों का अनुकरण करना ही उसका आदर्श न बने। वह पुरुष को रिझाने अथवा ललचाने के लिए अपने शरीर को सजाये नहीं, बल्कि अपने हृदय के गुणों से ही सुशोभित होने का प्रयत्न करें।

१०. स्त्रियों को सार्वजनिक कार्यों में पुरुषों के समान ही हाथ बँटाना चाहिए। मद्यपान-निषेध, पतित स्त्रियों का उद्धार आदि कुछ काम ऐसे हैं, जिन्हें स्त्रियाँ ही अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं।

११. यह एक मिथ्या भ्रम है कि स्त्री को विवाह करना ही चाहिए। उसे भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य-पालन का अधिकार है।

१२. अपनी इच्छा के विरुद्ध पति की काम-वासना तृप्त करने के लिए स्त्री बंधी हुई नहीं है। वैसा करनेवाला पति व्यभिचार के जैसा ही दोष करता है।

५. अस्पृश्यता

१. अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़ांध है, वहम है, पाप है; और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्तव्य है। यदि यह अस्पृश्यता समय रहते नष्ट न की गई, तो हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा।

२. जन्म के कारण मानी जानेवाली इस अस्पृश्यता की बदौलत अहिंसा-धर्म का और सर्वभूतात्म-भाव का लोप हो जाता है। इसके मूल में संयम नहीं, बल्कि उच्चता की उद्धत भावना ही है। इस कारण स्पष्ट ही यह अधर्म है। इसने धर्म के नाम पर लाखों अथवा करोड़ों मनुष्यों की स्थिति गुलामों जैसी कर डाली है |

३. सार्वजनिक मेलों, बाजारों, दुकानों, पाठशालाओं, धर्मशालाओं, मंदिरों, कुओं, रेलगाड़ियों और मोटरों आदि जिन जगहों में अन्य हिन्दुओं को स्वतंत्रता पूर्वक जाने और उनसे लाभ उठाने का अधिकार है, वहाँ अस्पृश्यों को भी वैसा अधिकार है ही। उन्हें इस अधिकार से वंचित रखनेवाला अन्याय करता है। इस अधिकार को स्वीकार करनेवाले उन पर मेहरबानी नहीं करते, बल्कि केवल अपनी ही भूल सुधारते हैं।

४. सैकड़ों वर्षों के अमानुषिक व्यवहार के कारण और संस्कारी लोगों के संसर्ग से वंचित रहने के परिणाम-स्वरूप अस्पृश्यों की स्थिति इतनी अधिक दयनीय बन गई है और वे इतने अधिक गिर गये है कि उन्हें दूसरे वर्गों की बराबरी में लाने के लिए समझदार हिन्दुओं को विशेष प्रयत्न करना चाहिए। अतएव अस्पृश्यों और ऐसी दूसरी दलित अथवा पिछड़ी हुई जातियों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना और इस काम में उदारता पूर्वक सहायता करना इस युग के हिन्दुओं का अति पवित्र कर्तव्य है।

५. इस दृष्टि से दलित जातियों के लिए विशिष्ट संस्थाओं और सुविधाओं की गुंजाइश है। किन्तु ऐसी विशिष्ट संस्थाओं अथवा सुविधाओं के कारण सार्वजनिक संस्थाओं और सुविधाओं से लाभ उठाने का उनका अधिकार छिन नहीं जाता।

६. अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने के लिए उनसे उनके परम्परागत धंधे छुड़वाने की अथवा उन धंधों के प्रति अरुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। उनमें किये जानेवाले जिस काम का परिणाम ऐसा निकले, वह काम उनकी सेवा का नहीं बल्कि असेवा का होगा। बुनकर बुनता रहे और चमार चमड़ा पकाता रहे और फिर भी वह अस्पृश्य न माना जाय, तभी कहा जायेगा कि अस्पृश्यता मिटी है। इन धंधों को सुधारने और इनका विकास करने की बड़ी ज़रूरत है। यद्यपि बुनकर अथवा चमार को उसका पुश्तैनी धंधा करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, फिर भी आज कुछ गाँवों में मरे हुए ढोरों को उठाने अथवा ऐसे दूसरे काम करने से इनकार करने पर गाँववाले इन लोगों का बहिष्कार करते है अथवा दूसरे तरीकों से इन्हें सताते हैं। वह भारी अन्याय और त्रास है।

७. समाज की गंदगी को दूर करके उसे हर रोज साफ रखने का कार्य पवित्र है। यदि यह कार्य नियमित रूप से न हो, तो समूचा समाज मौत के मुंह में जा पड़े। सफाई के इस काम का दरजा समाज के लिए आवश्यक दूसरे कर्मों के समान ही ऊँचा समझा जाना चाहिए। इस काम में अनेक सुधारों की गुंजाइश है। संस्कारी लोग इस काम को करने लगें, तो वे इसमें कई प्रकार के सुधार कर सकते हैं।

८. सफाई के इस काम को एक अलग धंधे का रूप देकर, इस धंधे को बहुत ही गन्दा और हलका मानकर तथा इस धंधे को करनेवाली भंगी जाति को बिलकुल ही नीचे वर्ण की मानकर हमने भंगी-समाज की स्थिति अत्यन्त दयनीय बना दी है और इसके परिणाम-स्वरूप हमारा समूचा समाज गन्दी हालत में रहने लगा है। इसका उपाय यह है कि हरएक परिवार अपने पाखानों की सफाई का और दूसरी सफाई का काम उसी तरह खुद कर ले, जिस तरह वह अपनी रसोई खुद बना लेता है। फिर सार्वजनिक सफाई का काम रह जायेगा। उसके लिए भले ही अलग से पेशेवर लोग रहें। लेकिन इस धंधे का दर्जा दूसरे ऊँचे माने जानेवाले धंधों के समान ही रहे और इस काम को करने के तरीकों में इतना सुधार किया जाय कि यह काम बहुत सुधड़ता के साथ और आरोग्यप्रद रीति से किया जा सके और इसे करनेवाला बहुत स्वच्छ रह सके।

९. अस्पृश्य माने जानेवाले लोगों में मुर्दार माँस खाने की जो आदत घर कर गई है, वह इस बात की सूचक है कि उनकी दरिद्रता कितनी करुणाजनक है। इस दरिद्रता को दूर कर के और उन्हें समझाकर उनकी यह आदत मिटानी चाहिए।

१०. केवल अपना आचरण शुद्ध रखने से संस्कारी नहीं बना जाता। हम जिसे अशुद्ध आचरण मानते है, वैसा आचरण करने के लिए दूसरों को विवश होना पड़े, इस प्रकार का व्यवहार भी असंस्कारिता की निशानी है। अपने को संस्कारी माननेवाले वर्ण अस्पृश्यों का अपनी जूठन दें अथवा सड़ा हुआ, उतरा हुआ या अशुद्ध बना हुआ अन्न दें और उनके साथ पशु से भी अधिक हलका व्यवहार करें, तो वह असंस्कारिता भी है और पाप भी है।

६. खाद्याखाद्य-विवेक

१. मनुष्य सर्वभक्षी प्राणी नहीं है। उसके खाद्य पदार्थों की मर्यादा हैं ही। पर इसका वर्णधर्म के साथ सम्बन्ध नहीं। इसमें छूतछात दोषरूप है।

२. स्वच्छता आदि के नियमों का पालन करते हुए और खाद्या-खाद्य विवेक की रक्षा करते हुए यदि सब वर्णों के लोग एक पंगत में बैठकर भोजन करते हैं, तो उसमें कुछ भी दोष नहीं है। साथ हीं, यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि भोजन किन्हीं अमुक ही वर्णों के लोगों द्वारा बनाया गया हो।

३. आजकल रोटी-व्यवहार को जो महत्त्व दिया जाता है, वह छूतछात का पोषक ही है| यह संयम के बदले उलटे अभिमान को उत्तेजित करनेवाला बन गया है।

४. अतएव जाति, कौम, धर्म आदि के भेदों की दृष्टि से जो चौका-भेद और पंक्ति-भेद किया जाता है, वह धर्म का लक्षण नहीं है। इस प्रकार के भेद की भावना से हिन्दू धर्म की हानि हुई है।

७. विवाह

१. यह विचार पापपूर्ण हैं कि विवाह के कारण मनमाना भोग भोगने की छूट मिल जाती है। स्त्री-पुरुप का संयोग एक ही हेतु से धर्मयुक्त हो सकता है: योग्य समय पर दोनों संतति की इच्छा से जुड़े तो। इस इच्छा को सिद्ध करने का शुद्ध प्रकार विवाह है|

२. विवाह की इच्छा रखनेवाली युवती अथवा युवक अपने लिए वर अथवा वधू का चुनाव स्वयं करे अथवा उनके लिए गुरुजन चुनाव कर दें, इसके लिए कोई एक निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। दोनों तरीकों में कम-अधिक गुण-दोष हैं। कम अनुभववाली युवावस्था तथा भोगेच्छा के आवेग से प्रभावित होकर किया गया चुनाव समुचित और सयानप भरा हो, इसकी संभावना कम ही है। दूसरी तरफ गुरुजन युवक अथवा युवती की योग्यता देखने के बदले प्रायः कुल-विषयक, सामाजिक प्रतिष्ठा-विषयक और बहुत बार तो धन-विषयक अपने पूर्वाग्रहों से प्रभावित हो जाते हैं।

३. अतएव विवाह की इच्छा रखनेवाले को अपनी इच्छा और विवाह के विषय में जो भी शर्तें या निर्णय उसने कर रखे हों, (जैसे, विधवा के साथ, जाति के बाहर, पैसा दिये-लिये बिना विवाह करना आदि) उनकी जानकारी गुरुजनों को अथवा गुरुजनों-जैसे मित्रों को दे देनी चाहिए और उनसे बिनती करनी चाहिए कि वे उन्हें ध्यान में रखकर उसके लायक वर अथवा वधू खोज दें।

४. गुरुजनों को युवती अथवा युवक के स्वभाव, गुण-दोष और विचारों को ध्यान में रखकर तदनुरूप साथी खोज़ने का प्रयत्न करना चाहिए। दोनों को एक-दूसरें के गुण-दोषों की जानकारी देनी चाहिए। दौनों के जीवन में आवश्यक रूप से जताने जैसी कोई घटनाएँ घटी हों, तो उन्हें प्रकट करना चाहिए। जो मुद्दा चुनाव की दृष्टि से महत्त्व का हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए।

५. गुरुजनों की ओर से सारी जानकारी मिल जाने के बाद यदि युवक-युवती को परस्पर मिलकर परिचय करने की या बातचीत करने की आवश्यकता प्रतीत हो, तो उन्हें उस प्रकार मिलने की सुविधा कर देनी चाहिए।

६. इसके परिणाम-स्वरूप दोनों एक-दूसरे को अपनाने का निश्चय करें, तो उनकी सगाई करनी चाहिए। दोनों में से एक भी अनिश्चित अथवा अप्रसन्न हो, तो उस दशा में सगाई नहीं करनी चाहिए और गुरुजनों को दूसरा स्थान खोजने का प्रयत्न करना चाहिए।

७. सगाई के बाद और विवाह से पहले स्पर्श की समुचित मर्यादा में रहकर और ब्रह्मचर्य-पालन का आग्रह रखकर दोनों एक-दूसरे के साथ पत्र-व्यवहार करें या मिलें तो उसमें दोष नहीं। संयमी स्त्री-पुरुष इस काल में भी अपने भावी वर अथवा वधू के साथ भोग की चर्चा अथवा कल्पना नहीं करेंगे, बल्कि ऐसी ही चर्चा और कल्पना करेंगे, जिससे एक-दूसरे का उत्कर्ष हो।

८. विवाह के बाद भी वे मानेंगे कि विवाह एक धर्म है। धर्म में मर्यादा, विवेक आदि का समावेश होता है। अतएव जो दम्पती मर्यादा-पूर्वक और विवेक पूर्वक रहते हैं, वे गृहस्थ-धर्म का पालन करते हैं; जो मर्यादा छोड़कर बरतते हैं, वे धर्मनिष्ठ नहीं, स्वेच्छाचारी हैं।

९. संतान की इच्छा के बिना विवाह-सम्बन्ध इष्ट नहीं। किन्तु विवाह कर चुकने के बाद दोनों संयमी जीवन बिताना चाहे, तो विवाह को रद करने की आवश्यकता नहीं। समाज के अनेक आवश्यक कार्य स्त्री-पुरुष दोनों को मिलकर करने होते हैं। उन कामों में दोनों एक-दुसरे के धर्म-सहचारी बनें और अपने निकट सम्बन्ध का उपयोग सेवा के लिए करें।

१०. संतानोत्पादन की इच्छा न हो, संतान उत्पन्न करने की दोनो में से एक की भी योग्यता अथवा शक्ति न हो, अथवा परस्पर सम्मति न हो, फिर भी यदि पति-पत्नी भोग करते हैं, तो वह पापपूर्ण है।

८. संतति-नियमन

१. बिना सोचे-विचारे संतान बढ़ाते जाना अथवा संतान की इच्छा बनाये रखना जड़ता की निशानी है।

२. आज संतान की अविचारपूर्ण वृद्धि को रोकने की आवश्यकता है; पर उसका धर्मयुक्त मार्ग एक ही है: ब्रह्मचर्य का।

३. संतति-नियमन के कृत्रिम उपाय धर्म और नीति के विरुद्ध हैं और परिणाम में विनाश की ओर ले जानेवाले हैं। उनके कारण जनता का सब प्रकार से अधःपतन होता है।

९. दम्पती का ब्रह्मचर्य

१. यह मान्यता भूलभरी है कि विवाहित स्त्री-पुरुष को ऋतुकाल में भोग करना ही चाहिए। इसी प्रकार यह मान्यता भी ग़लत है कि दो में से एक की इच्छा न हो, तो भी उसे दूसरे की भोगेच्छा को तृप्त करना ही चाहिए।

२. अतएव यदि दो में से एक की भी विषयेच्छा अपने शरीर को स्वाधीन रखने जितनी मंद पड़ जाय, तो उसे ब्रह्मचर्य से रहने का अधिकार है। ऐसा करते समय वह अपने साथी का सहयोग चाहेगा, पर सम्मति को आवश्यक नहीं मानेगा।

३. पति की असम्मति होने पर स्त्री के ऐसे निर्णय से उसकी स्थिति अवश्य कठिन बन सकती है। जिसे अपने धर्म का स्पष्ट बोध हुआ है, ऐसी स्त्री सत्याग्रह के बल से उस कठिनाई को सहन कर ले और जो दुःख आ पड़े उन्हें सह ले।

४. जब पति ऐसा निर्णय करता है तब भी तीव्र भोगेच्छा रखनेवाली स्त्री की स्थिति कठिन हो जाती है; क्यों कि दोनों परिस्थितियों में कानून और लोकमत पत्नी के प्रतिकूल हैं। किन्तु जो पति इस प्रकार धर्म-भावना से ब्रह्मचर्य-व्रत को अपनाता है, वह अपनी पत्नी के मार्ग को सरल कर देगा। वह उसके लिए ऐसे योग्य पुरुष को खोजने में मदद करेगा, जो कानून की राय को न मानते हुए अपने को ऐसी स्त्री के साथ धर्म-विवाह से ही जुड़ा हुआ मानेगा और समाज तथा कानून की तरफ से उठनेवाली कठिनाइयों को सहन कर लेगा। इस प्रकार वह कानून में सुधार करने के मार्ग को भी सरल कर देगा। जब तक ऐसा पति न मिल सके तब तक वह ऐसी स्त्री को आदरपूर्वक रखेगा।

१०. विधवा-विवाह

१. हिन्दू विधवा त्याग और पवित्रता की मूर्ति है। वह माता की तरह सबके लिए पूज्य है। उसे अशुभ समझनेवाला हिन्दू समाज महान अपराध करता है | शुभ कार्यों में उसकी उपस्थिति और आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य किया जाना चाहिए। पवित्र विधवा का समाज को भूषण समझकर उसके सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा की जानी चाहिए।

२. किन्तु स्त्री-जाति के प्रति बढ़ी हुई तुच्छता की भावनाने विधवा के प्रति अन्याय करने में कोई कसर ही नहीं रखी है। इस कारण हिन्दू विधवा की स्थिति अछूतों के समान ही दयनीय बन गई है।

३. विधवा त्याग की मूर्ति है, किन्तु इस कारण वैधव्य बलपूर्वक पलवाने की वस्तु नहीं है। बलपूर्वक कराये गये त्याग से उसकी मूलभूत दिव्यता का नाश होता है और वह उसे पूजनीय और आदर्श बनाने के बदले दयनीय बना देता है।

४. इस कारण विधुर पुरुष के लिए पुनर्विवाह का अधिकार जिस हद तक मान्य हुआ है, उसी हद तक विधवा के लिए भी मान्य है।

५. बाल-विधवा बाल-विवाह का परिणाम है। १८ वर्ष की उमर से पहले कन्या का विवाह होना ही न चाहिए। बाल-विवाह के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होनेवाला वैधव्य असल में वैधव्य है ही नहीं। ऐसी विधवा को कुमारी कन्या जैसी ही समझकर माता-पिता जितनी चिन्ता कुमारी कन्या के ब्याह की करते हैं, उतनी ही उसके लिए भी करें और उसका विवाह करा दें।

६. विवाह की इच्छा रखनेवाले हिन्दू युवक को यह सलाह देने योग्य है कि वे ऐसी बाल-विधवाओं से ही विवाह करने का आग्रह रखें। नौजवान विधुर को तो, अगर वह फिर से विवाह करना चाहता है, विधवा से ही विवाह करना धर्म समझना चाहिए।

११. वर्णान्तर-विवाह

१. बेटी-व्यवहार के मामले में संयम, सुख और वर्ण (अर्थात् धंधे की विरासत) की रक्षा के विचार से अपने ही वर्ण में विवाह करने की मर्यादा साधारणत: इष्ट है। लेकिन आजकल, जब कि वर्ण-व्यवस्था टूट चुकी है, स्वधर्मियों के बीच गुण-कर्म को पहचानकर विवाह-सम्बन्ध स्थित करना उचित है। ऐसे वर्णान्तर-विवाह को प्रोत्साहित करना चाहिए।

२. परदेशी और परधर्मी के साथ विवाह करने में घर्म का प्रतिबन्ध न रहे | किन्तु इसमें अनेक विघ्न आने की संभावना रहती है, इसलिए ऐसे सम्बन्ध अपवादरूप में ही शोभा देंगे और उनमें भी उनका हेतु पारमार्थिक होना चाहिए।

३. जात-पाँत के मौजूदा बन्धन तोड़ने की ज़रूरत है | इसलिए समझदार युवकों और युवतियों तथा उनके माता-पिताओं को यह संकल्प करना चाहिए कि अपनी जाति अथवा उपजाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध करना इष्ट है। इससे जात-पांत के बन्धन टूटने में बड़ी मदद होगी।

खण्ड चौथा: सत्याग्रह

१. सत्याग्रही का कर्तव्य

१. दूसरे खंड में सत्याग्रह के बारे में एक सामान्य प्रकरण दिया गया है (तीसरा)। इसे पढ़ने से पहले पाठक उसे फिर पढ़ लें।

२. व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है कि जिस समाज में व्यक्ति का जन्म होता है, उस समाज की कुल मिलाकर जितनी प्रगति धर्म में हुई होती है, उसकी तुलना में व्यक्ति की प्रगति बहुत आगे नहीं बढ़ सकती। भूतकाल के किसी महापुरुष की तुलना में आज का महापुरुष धर्म-विचार अथवा धर्म-साधना के किसी मामले में आगे बढ़ जाय, तो इसका बहुत कुछ कारण तो यही हो सकता है कि उस महापुरुष के समय के समाज की अपेक्षा आज का समाज इस प्रकार के धर्म-विचार और साधना में अधिक आगे बढ़ा हुआ हो। यह आशा की जा सकती है कि इसी तरह मानव-समाज में धर्म की शुद्धि उत्तरोत्तर होती रहेगी।

३. इस कारण अपने आसपास चल रहे स्पष्ट अधर्म की ओर से आँखें मींचकर कोई व्यक्ति अपनी अतिशय आध्यात्मिक उन्नति कर सके, यह संभव नहीं।

४. अतएव व्यक्ति को केवल अपने ही जीवन में सत्य, अहिंसा आदि धर्मों की सिद्धि करनी हो, तो भी समाज में चल रहे अधर्म का विरोध करना उसका कर्तव्य हो जाता है।

५. जिस हद तक स्वयं उसमें सत्य आदि गुणों का उत्कर्ष हुआ होगा और जिस हद तक उसे अधर्म के विष का स्पष्ट अनुभव हुआ होगा, उसी हद तक उसका विरोध करने के अपने कर्तव्य को वह समझेगा और उसमें अपनी शक्ति लगायेगा।

२. सत्याग्रही की मर्यादा

१. सत्याग्रह का तत्त्व अभी पूर्णतया विकसित शास्त्र नहीं बना है। उसका प्रयोग अभी बाल्यावस्था में है, और उसका प्रयोग करनेवाला और उसकी शक्ति को खोज़ने और आजमानेवाला कोई पूर्ण शास्त्री अभी ध्यान में नहीं है।

२. अतएव सब प्रकार के अधर्मों, अन्यायों, कलहों आदि का निवारण करने के लिए तुरन्त आचरण में लाने योग्य नुस्खे पाने की कोई आशा न रखे। परन्तु यह श्रद्धा रखकर कि सत्य और अहिंसा में ये शक्तियाँ है ही, सत्याग्रही इन्हें खोजने का प्रयत्न करता रहे।

३. इस बीच, अनेक प्रकार के अधर्मों, अन्यायों, कलहों आदि का निवारण उससे हो नहीं पाता हैं, यह देखकर वह न तो निराश हो और न निष्क्रिय ही बने।

४. जिन अधर्मों को दूर करने के लिए वह सत्याग्रह का मार्ग ढूढ़ नहीं सकता है, उनके हिंसात्मक उपाय आयोजित होते रहेंगे। सत्याग्रही उन उपायों का केवल निषेध करे अथवा अपना शारीरिक या आर्थिक सहयोग न देकर तटस्थ रहे, इससे हिंसा के बारे में उसका नैतिक दायित्व कम नहीं होगा। वह इस दायित्व से तभी मुक्त हुआ माना जायेगा जब इसकी कोई अहिंसात्मक योजना वह सुझायेगा और सिद्ध कर दिखायेगा।

५. इसका यह मतलब नहीं कि सत्याग्रही का केवल निषेध करना या तटस्थ रहना हमेशा ही गलत माना जायेगा। कभी-कभी उसका इतना और यही कर्तव्य हो सकता है।

६. किन्तु ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब सत्याग्रही को हिंसा में न्यूनाधिक मात्रा में सक्रिय भाग भी लेना पड़े। उदाहरण के लिए, अपराधी को दण्ड दिलाना, युद्ध छिड़ने पर अपने राज्य की मदद करना आदि। जिस राज्य में वह रहता है और जिस से सुरक्षा पाता है, यदि उस राज्य को वह अहिंसा का मार्ग न दिखा सके, तो केवल हिंसा का विरोध करने से अथवा असहयोग करने से वह उस हिंसा का सहभागी बनने से बचता नहीं।

७. किन्तु इस प्रकार मदद करते हुए भी मदद की अपनी रीति में वह अपनी सारी सत्यनिष्ठा और अहिंसा-वृत्ति का परिचय दे और अहिंसात्मक मार्ग खोज़ने का प्रयत्न करें |

३. सत्याग्रह का मूलभूत सिद्धांत

१. मनुष्य कितना ही स्वार्थान्ध क्यों न बन गया हो और चाहे जैसे घातक अथवा कुटिल उपायों से काम लेने की उसकी तैयारी क्यों न हो, फिर भी अपने दिल की गहराई में उसे यह प्रतीति होती है कि सत्य ही सबसे श्रेष्ठ है और इसी कारण उसके मन में सत्य के लिए आदर और भय भी रहता ही है। मनुष्य-मात्र के हृदय में सत्य के लिए यह जो गुप्त प्रतीति, आदर और भय पाये जाते हैं, वे सत्याग्रह के शस्त्र की बुनियाद हैं। इसी को मनुष्य के हृदय में विद्यमान 'अन्तःकरण की आवाज' कहा जा सकता है।

२. स्वार्थ के वश होनेवाला मनुष्य कुछ समय तक अन्तःकरण की इस आवाज की उपेक्षा करता है अथवा इसे दबा देने की कोशिश में रहता है; किन्तु यदि उसका विरोधी सच्चा सत्याग्रही सिद्ध हो, तो अन्त में उसे इस आवाज को सुनना ही पड़ता है।

३. उसके सामने यह आवाज़ अनेक रूप में प्रकट होती है: उसे अपने अन्याय का विश्वास हो जाय और उसके लिए पश्चात्ताप हो, यह उसका श्रेष्ठ प्रकार है। इसीका नाम 'हृदय-परिवर्तन' है।

४. किन्तु इससे कम तीव्रता के साथ भी यह आवाज़ उठ सकती है: उदाहरण के लिए, लोक-लाज के रूप में अथवा सर्वनाश के भय के रूप में।

५. जब सत्याग्रही का विरोधी कोई एक व्यक्ति नहीं, पर एक राष्ट्र, कौम या तंत्र होता है, तब ऐसा अन्तर्नाद उसके किसी अधिक चरित्रवान मनुष्य को पहले सुनाई पड़ता है और पहले उसका हृदय-परिवर्तन होता है। बाद में वह मनुष्य अपने लोगों को यह आवाज सुनाता है और सत्य का पक्ष लेकर उनका विरोध भी करता है।

६. प्रत्येक सत्याग्रह का साध्य यह है कि विरोधी के हृदय को अन्तःकरण की आवाज़ के प्रति जाग्रत किया जाय। अन्याय को दूर करने के लिए विरोधी को जो-जो भी कदम उठाने चाहिए, वे सब इस साध्य में से, इसके परिणाम-स्वरूप, अपने-आप ही उठते हैं।

४. सत्याग्रह के सामान्य लक्षण

१. सत्य-अहिंसा आदि साधनों द्वारा ही अधर्म का विरोध किया जा सकता है, यह सामान्य नियम सर्वत्र लागू होता है।

२. अधर्म के नाश का धर्मयुक्त उपाय होना ही चाहिए, इस श्रद्धा से उत्कटतापूर्वक विचार करनेवाले सत्याग्रही को विरोध करनेकी रीति सुझ ही जाती है।

३. सत्याग्रह एक ऐसा उपाय है, जिसमें सत्याग्रही को ही कष्ट सहना होता है; विरोधी पक्ष को दुःख देने का हेतु होता ही नहीं। अतएव यदि सत्याग्रही से कोई भूल हो जाये, तो हो सकता है कि उसके कारण उसे आवश्यकता से अधिक दुःख सहना पड़ जाय।

४. किन्तु इस कारण सत्याग्रह के परिणाम-स्वरूप विरोधी के साथ शत्रुता बढ़ती नहीं, बल्कि घटती है; सत्याग्रह में एक पक्ष विजेता बने और दूसरा पक्ष पराजित हो, ऐसा कभी होता नहीं; उलटे, सत्याग्रह के अन्त में दोनों पक्ष मित्र बनते हैं।

५. अधर्म का विरोध करने के लिए सत्याग्रह का योग्य प्रकार जब तक न सूझे, तब तक सत्याग्रही कोई भी कदम उठाने की उतावली नहीं करें। उस हालत में वह शान्ति से ईश्वर की प्रार्थना और जनता की अन्य सेवा करता रहेगा। वह यह श्रद्धा रखेगा कि ऐसा करते हुए एक दिन उसे स्पष्ट मार्ग सूझ जायेगा और उस समय उसमें उस पर अमल करने की शक्ति भी आ चुकी होगी; अथवा ईश्वर ही अपनी अनेकविध शक्तियों द्वारा उसका हल निकालेगा।

६. सत्याग्रह का शस्त्र संघ-बल पर अवलम्बित नहीं रहता। किन्तु संघ-बल उसकी शक्ति बढ़ा सकता है। सच्चे और झूठे सत्याग्रह के भेद को परखने की एक कसौटी यह है: सत्याग्रह की सूचना करनेवाला स्वयं अकेला रह जाय और उस हालत में वह अपनी सूचना का अमल करने को तैयार न हो, तो कहा जा सकता है कि वह सच्चा सत्याग्रही नहीं है। सच्चे सत्याग्रही को जो मार्ग स्पष्ट प्रतीत होता है, उस पर अमल करने के लिए वह अकेला भी तैयार रहता है।

७. किन्तु कोई अकेले दम सत्याग्रह करने को तैयार हो, इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिए कि वह हमेशा उचित मार्ग पर ही चलता है; फिर भी वैसी भूल के परिणाम तीसरी और चौथी कंडिका में सूचित परिणामों के अनुसार होते हैं।

८. सत्याग्रही झुठी प्रतिष्ठा का विचार नहीं करता। जब उसे अपनी विचारधारा में अथवा योजना में दोष दीखता है, तब वह कितना ही आगे क्यों न बढ़ गया हो, तो भी रुक जाने में अथवा पीछे कदम हटाने-जैसा लगे, तो वैसा करने में भी और अपनी भूल को कबूल करके जो नुकसान हो, उसे सह लेने में अथवा उसके लिए समुचित प्रायश्चित्त करने में भी शरमाता नहीं। क्यों कि सत्याग्रही सत्य की अपेक्षा दूसरे किसी भी विचार अथवा कारण को कम महत्त्व समझता है। इससे उसका इष्ट कार्य बिगड़ता नहीं। बल्कि सुधरता है, और उसकी प्रकट 'पीछे-हट' 'आगे-बढ़' थी, ऐसा बाद में सिद्ध होता है।

५. सत्याग्रह के प्रसंग

नीचे के नियम केवल दिशा-सूचक ही समझे जायँ:

१. सत्याग्रही अपने निज के साथ हुए अन्यायों के लिए तुरन्त सत्याग्रह शुरू नहीं करता। साधारणत: वह ऐसे अन्यायों को सहन कर लेगा और सहन करता हुआ विरोधी को प्रेम से जीतने का प्रयत्न करेगा। अपने प्रति होनेवाले अन्याय के मूल में किसी सामाजिक अहित के होने पर ही वह साधारणत: सत्याग्रह द्वारा उसका विरोध करेगा।

२. इसी प्रकार व्यक्ति द्वारा होनेवाले अन्याय और समाज अथवा सत्ताधारी की तरफ से होनेवाले अन्यायों के बीच सत्याग्रही को भेद करने की ज़रूरत पड़ती है। इस अपूर्ण मानव-समाज में यह तो होता ही रहेगा कि बलवान व्यक्ति निर्बल को सताये। यह संभव नहीं है कि ऐसे प्रत्येक झगड़े में सत्याग्रही दखल दे सके। ऐसे समय उसे अपनी शक्ति, मर्यादा, अन्याय के प्रकार, उसके तात्कालिक महत्व, न्याय-प्राप्ति के सर्वमान्य वैधानिक साधन आदि का विचार करना होगा। इस सबके बावजूद, जहाँ स्पष्ट आवश्यकता प्रतीत हो, वहाँ वह अपने प्राण देकर भी अन्याय को रोकने का प्रयत्न करेगा।

३. सामाजिक और राजनीतिक अन्यायों के बीच भी विवेक से काम लेने की आवश्यकता होती है। एक अधर्म अथवा अन्याय ऐसा होता है कि उसमें कायदा अधर्मी या अन्यायी नहीं होता, पर उसका अमल अधर्म या अन्यायपूर्वक होता है और अमल करनेवाला अपने अधर्म अथवा अन्याय को उसकायदे की ओट में छिपाता है अथवा उसे अपना हथियार बनाता है। इसके लिए उसे न्याय अथवा धर्म का दंभ करना पड़ता है। अपूर्ण मानव-समाज में ऐसी घटनायें भी घटती रहेंगी। जैसे-जैसे मानव-समाज में सद्गुणों की और परस्पर समभाव की सामूहिक वृद्धि होगी, वैसे-वैसे इस स्थिति में सुधार होगा। ऐसी दशा में यह मानकर संतोष करना होता है कि दंभ का आचरण करनेवाले को न्याय और धर्म का जो दंभ करना पड़ता है, वही उसकी सत्य के प्रति अर्पित श्रद्धांजलि है। किन्तु जब ऐसा दंभ व्यापक बन जाता है, तो उसमें भी सत्याग्रह का प्रसंग और मार्ग निकल आता

है। उदाहरण के लिए, जब सर्वत्र दमन चल रहा हो तब अपना बचाव न करना, बल्कि दंड़ सहन कर लेना, यही स्वतंत्र रूप से सत्याग्रह की एक रीति हो सकती है।

४. किन्तु जो अन्याय अथवा अधर्म निर्लज्जतापूर्वक 'तुम्हें जो करना हो, कर लो', इस भावसे होता है, अथवा उसीको न्याय का, धर्म का या कायदे का नाम दिया जाता है, तो वहाँ सत्याग्रह कर्तव्यरूप बन जाता है। क्यों कि ऐसे अधर्म अथवा अन्याय को सहन कर लेनेवाले की सत्व-हानि होती है।

५. सत्याग्रही कभी सत्याग्रह के अथवा सविनय-भंग के अवसरों की खोज़ में नहीं रहेगा; किन्तु वह अपने को उनके लिए हमेशा तैयार रखेगा और जब सत्याग्रह कर्तव्यरूप होगा, तो उस प्रसंग का वह स्वागत करेगा।

६. सत्याग्रह के प्रकार

१. सत्याग्रह किन-किन तरीकों से हो सकता है, इसके सब प्रकार गिनाये नहीं जा सकते। अधर्म का स्वरूप, उसकी तीव्रता, उसका आचरण करनेवाले व्यक्ति अथवा समाज की विशेषताएँ, उसके साथ अपना सम्बन्ध, अपने तथा जिसका पक्ष उसने लिया हो उसके जीवन में से उक्त अधर्म को दूर करने में मिली सफलता—इन सब बातों पर सत्याग्रह की पद्धति, प्रकार और उसकी मात्रा निर्भर करती है।

२. साधारणत: यह कहा जा सकता है कि एक परिवार में रहनेवाला व्यक्ति अधर्माचरण करनेवाले दूसरे परिजनों के विरुद्ध जिन पद्धतियाँ का उपयोग करता है वे ही पद्धतियाँ उचित रीति से समाज पर भी लागू हो सकती हैं।

३. इस प्रकार इसमें समझाइश से शुरू करके उपवास, असहयोगे, सविनय अवज्ञा, उस परिवार-समाज-राज्य इत्यादि का त्याग, अपने न्यायोचित अधिकार का शान्तिपूर्ण अमल और यह सब करते हुए जो संकट सामने आयें उन्हें सहना ऐसे अनेक प्रकारों का समावेश होता है।

४. इनमें से योग्य उपाय और उसकी योग्य मात्रा का निर्णय करने में विवेक अथवा तारतम्य बुद्धि से काम लेना चाहिए। यह बुद्धि अनुभव से प्राप्त होगी, किन्तु इस सम्बन्ध की कुछ उपयोगी सूचनाएँ आगे के प्रकरणों में दी गई है।

५. लेकिन याद रहे कि सत्याग्रह अभी अपूर्ण रूप में विकसित शक्ति है। जो तपस्वी काया-वाचा-मनसा सत्य और अहिंसा का पालन करता हुआ इसकी शक्तियों का पता लगाने की मेहनत करेगा, उसे सत्याग्रह के अनेक नये प्रकार प्राप्त होंगे और उसकी शक्ति अखूट प्रतीत होगी। रचनात्मक कार्य में लगे रहना सत्याग्रह की बड़ी से बड़ी तालीम है।

६. सत्याग्रह सशस्त्र विद्रोह का स्थान भलीभांति ले सकता है। इसी तरह उसमें युद्ध को रोकने की शक्ति भी होनी ही चाहिए। आज यह नहीं कहा जा सकता कि उस शक्ति का बाह्य स्वरूप कैसा होगा। पर इसका अर्थ तो यही हुआ कि अधिक श्रद्धा से उसकी शक्तियों की खोज़ के लिए जूझा जाय।

७. समझाइश

१. विरोधी को समझाकर समाधानपूर्वक काम करने का प्रयत्न करना सत्याग्रही का पहला लक्षण और सत्याग्रह की पहली सीढ़ी है।

२. ऐसी समझाइश के एक भी मार्ग को वह हाथ से जाने नहीं देगा। इसमें वह अपने धैर्य और उदारता की पराकाष्ठा का परिचय देगा। इसके लिए वह बिचवई का काम करनेवाले मित्रों की मध्यस्थता की उपेक्षा नहीं करेगा और जिस से सिद्धान्त का भंग न हो, ऐसी सब प्रकार की छूट या रियायत देने के लिए वह तैयार रहेगा।

३. समझाइश के प्रयत्न निष्फल हो जायँ और विशेष प्रकार की कार्यवाही करने का समय आये, तो उस दशा में वह विरोधी को एक अन्तिम अवसर दिये बिना आगे नहीं बढ़ेगा।

४. आगे बढ़ने के बाद भी वह समझौते के लिए हमेशा तैयार रहेगा और धोखा खाने के संकट को ओढ़कर भी वह अपनी समाधान-प्रियता का और फिर से 'हरिः ऊँ' करने की अपनी तैयारी का परिचय देगा; क्यों कि सत्याग्रही असहयोगी बनने, विरोधी बनने और तीव्र लड़ाई छेड़ने पर भी अपने खून में मौजूद सहयोग, मित्रता और समाधान की इच्छा को लुप्त नहीं होने देगा।

५. जब तक विरोधी के अन्तर में हृदय-परिवर्तन होने लायक आवाज न उठे तब तक, अमुक अन्याय दूर हो जाये तो भी, यह नहीं कहा जा सकता कि उसका दिल साफ हुआ है और सत्तग्रह का कार्य पूर्ण हुआ है।

६. इस कारण ऐसी स्थिति आने से पहले जितने समझौते हों, उनमें सत्याग्रही को कुछ रियायतें देनी पड़ती हैं और कुछ अन्यायों को पी जाना पड़ता है। ऐसा करके सत्याग्रही, मूल अन्याय को छोड़े बिना, उसे मिटाने की कोशिश के दरमियान किये जानेवाले दूसरे अन्यायों के प्रति उदार-वृत्ति का परिचय देता है।

८. उपवास

१. उपवास सत्याग्रह का एक प्रकार और तीव्र प्रकार है। किन्तु इसका अवलम्बन करने में बहुत उतावली और भूल हो सकती है।

२. व्यक्ति के विरुद्ध किये जानेवाले सत्याग्रह में जिस हद तक उपवास किया जा सकता है, समाज अथवा तंत्र के विरुद्ध उस हद तक नहीं किया जा सकता।

३. व्यक्ति के विरोध में भी उपवास-रूपी सत्याग्रह निरुपाय होने पर ही करना चाहिए। उपवास से विरोधी की न्याय अथवा धर्म-वृत्ति न भी जागे, बल्कि केवल कृपा-वृत्ति जागे, अथवा 'कलह का मुँह काला' की वृत्ति से वह सत्याग्रही की 'जिद' पूरी करे, ऐसा हो सकता है; पर इसे सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता।

४. व्यक्ति के विरुद्ध किये जानेवाले सत्याग्रह में यदि उस व्यक्ति के साथ पहले से कोई निजी या मित्रता का सम्बन्ध न हो, तो उपवास का सहारा लेना उचित नहीं।

५. साधारणत: यह कहा जा सकता है कि उपवास के रूप में किया जानेवाला सत्याग्रह कुटुम्बियों, निजी मित्रों, गुरु, शिष्य, गुरु-भाई आदि निजी रूप से परिचित मंड़ली के विरुद्ध ही किया जा सकता है। इसी प्रकार जो समाज अपना ही हो और पहले अपने द्वारा की गई सेवा के कारण सेवक समाज का आदरपात्र बना हो, तो साधारणत: यह कहा जा सकता है कि ऐसे समाज के अन्याय के विरुद्ध उपवास के रूप में सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. व्यक्ति के विरुद्ध होनेवाले सत्याग्रह में व्यक्तिगत अन्याय के लिए तो कभी उपवास करना ही न चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने साथ मित्रता का दावा रखता हो और किसी तीसरे व्यक्ति के प्रति अथवा स्वयं के प्रति किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार करता हो, तो दूसरे उपायों का प्रयोग करने के बाद उपवास किया जा सकता है।

७. तंत्र के विरुद्ध किये जानेवाले सत्याग्रह में उपवास अन्तिम उपाय है। जब सत्याग्रही पराधीन स्थिति में हो और सत्याग्रह के दूसरे कोई भी उपाय उसके लिए संभव

न हों और तंत्र द्वारा होनेवाला अधर्म उसे इतना खटकनेवाला हो कि उस अधर्म अथवा अन्याय को सहन करते हुए जीना उसके लिए तो केवल सत्त्वहीन बनकर जीने-जैसा हो जाये, तो प्राण छोड़ने की तैयारी से ही वह अनशन शुरू करे।

८. ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है, इसका निर्णय करने में वह अपनी भावना को अति तीव्र न होने दे; बल्कि तंत्र चलानेवाले व्यवस्थापकों की कठिनाइयों का और जिन पुरानी आदतों में वे फँसे हुए है, उनका भी वह उचित विचार करे और इसके लिए आवश्यक रियायत भी दे। साथ ही, वह इस बात का भी विचार करे कि कौनसा अन्याय अनिवार्य और आकस्मिक है, कौनसा जान-बूझकर किया गया है और कौनसा अन्यायपूर्ण नियमों के कारण हो रहा है। इनमें भी वह व्यक्तिगत अन्यायों को कड़े दिल से सह लेगा। क्यों कि जब मनुष्य जानबूझकर अन्याय सहन करता है, तो उससे उसकी सत्त्वहानि नहीं होती; किन्तु जब दीनता, भय अथवा केवल जान बचाने के मोह से वह अन्याय सहता है, तो उससे उसकी सत्त्वहानि होती है।

९. एक ओर सत्याग्रह के रूप में उपवास शुरू करना और दूसरी ओर अपनी माँग मंजूर कराने के लिए विरोधी के अधिकारियों द्वारा उस पर दबाव डलवाने का प्रयत्न करना उचित नहीं। ऐसा उपवास सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता |

१०. अपने अथवा मित्र के अथवा साथियों के दोषों के प्रायश्चित्त के रूप में अथवा मित्र या साथियों को उनकी किसी शुद्ध प्रतिज्ञा पर दृढ़ रखने के लिए उपवास करना, इस प्रकरण के अर्थ में सत्याग्रह नहीं बल्कि तपश्चर्या है। इस प्रकार विवेकपूर्वक की जानेवाली तपश्चर्या का जीवन में स्थान है; किन्तु यहाँ उसकी चर्चा प्रस्तुत नहीं।

परिशिष्ट

(महादेवभाई देसाई की डायरी में उसके संपादक स्व० नरहरिभाई परीखने उपवास-सम्बन्धी कुछ मननीय बातों का संग्रह किया है। पुनरुक्ति का दोष होते हुए भी उन्हें यहाँ परिशिष्ट के रूप में दिया जाता है।)

१

हम उपवास का अर्थ समझते नहीं और यह मान लेते हैं कि स्थूल आहार लेना बन्द करने से उपवास हो जाता है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। बेशक, भोजन न करना उपवास का अनिवार्य अंग है। परन्तु यह उपवास का सबसे मुख्य अंग नहीं है। उपवास का सबसे मुख्य अंग तो प्रार्थना है, ईश्वर के साथ एकतान होना है। यह वस्तु स्थूल आहार का स्थान अधिक अच्छी तरह और उचित रूप में ले सकती है।

(ता० ७-५-'३३ को मीराबहन को लिखे गांधीजी के पत्र से, महादेवभाई की डायरी—भाग ३, पृ० २९५)

२

(महादेवभाई की डायरी-भाग २ में सत्याग्रही के एक शस्त्र के रूप में उपवास की जितनी सांगोपांग चर्चा हुई है, उतनी अन्यत्र किसी पुस्तक में नहीं हुई होगी। उपवास कौन कर सकता है? कब कर सकता है? किसके विरुद्ध कर सकता है? क्या उपवास दूसरे पर बलात्कार नहीं है? सहानुभूति में उपवास किया जा सकता है या नहीं?—इन सब प्रश्नों की प्रसंगों और उदाहरणों के साथ इस पुस्तक में विस्तार से छानबीन की गई हैं और संपूर्ण विषय पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। इस स्थान पर सारी चर्चा नहीं दी जा सकती। इसलिए यहाँ उस विषय में प्रकट किये गये गांधीजी के मतों का निष्कर्ष ही सूत्ररूप में दिया गया हैं।)

१. स्वार्थपूर्ण हेतु के लिए उपवास नहीं किया जा सकता। उसका हेतु शुद्ध जन-कल्याण होना चाहिए।

२. किसीके कहने से उपवास नहीं किया जा सकता। उपवास की प्रेरणा भीतर से होनी चाहिए। उसके लिए अन्तरात्मा की आवाज़ या आदेश स्पष्ट सुनाई पड़ना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उपवास के लिए ईश्वरीय प्रेरणा होनी चाहिए।

३. अन्तरात्मा की आवाज़ सुनने की यह योग्यता उस मनुष्य में आती है, जो यम-नियम के कठोर पालन से विशुद्ध हो गया है। उपवास प्रार्थना का उदात्ततम रूप है। वह

सत्याग्रही का अंतिम आधार शरण है। जो मनुष्य 'प्रभो, तेरी इच्छा ही पूरी हो, मेरी नहीं' की वृत्ति रखकर संपूर्ण रूप में ईश्वर की शरण में जाता है, वही उपवास करने योग्य माना जायगा।

४. फिर भी संभव है कि अन्तरात्मा का नाद—आवाज सुनने में मनुष्य ग़लती करता हो; वह नाद ईश्वर का न हो, बल्कि शैतान का हो। ऐसे उपवास से यदि मनुष्य की मृत्यु हो जाय तो जिन लोगों पर उसका प्रभाव पड़ता है, उन पर उसका ग़लत प्रभाव या बोझ पड़ना बंद हो जाता है।

५. जो लोग उपवास करनेवाले को अपना विरोधी या दुश्मन समझते हों, उनके विरुद्ध उपवास नहीं किया जा सकता। उपवास हमेशा उन्हीं लोंगों के विरुद्ध किया जा सकता है, जो उपवास करनेवाले से प्रेम रखते हैं और उसके कार्यों में साथ देते हैं। विरोधी के मत-परिवर्तन के लिए उपवास उचित साधन नहीं माना जा सकता।

६. उपवास दो प्रकार के होते हैं: एक वह जिस के साथ कोई शर्त जुड़ी हो; दूसरा वह जिस के साथ कोई शर्त न जुड़ी हो। दूसरे प्रकार का उपवास आमरण हो सकता है या किसी निश्चित समय का हो सकता है। ऐसे उपवास में किसी से कोई काम कराने की शर्त नहीं होती। इसलिए उपवास यदि शुद्ध हो तो उसके फलस्वरूप उपवास करनेवाले की और उस पर प्रेम रखनेवालों की आत्मशुद्धि होती है। इस प्रकार का उपवास ईश्वर के दरबार में अपनी वेदना की पुकार पहुँचाने जैसा है। ऐसा उपवास यदि किसी निश्चित समय का हो, तो ईश्वर जिलाना चाहे तो मनुष्य को जिलाता है और उपवास पूरा कराता है।

७. शर्तवाले उपवास के लिए शर्त रखने में विवेक और मर्यादा होनी चाहिए। इस प्रकार का उपवास उपवासी के मित्रों और साथियों पर एक प्रकार का दबाव डालता है, परन्तु वह प्रेम का दबाव होने के कारण हितकारी है। क्यों कि ऐसा उपवास उनकी सोई हुई अंतरात्मा को झकझोर कर जाग्रत करता है और उन्हें कर्तव्य में लगाता है। जो लोग उपवास करनेवाले पर प्रेम नहीं रखते अथवा जो लोग उसके विरोधी हैं, उन पर ऐसे

उपवास का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कभी-कभी तो विरोधी ऐसा भी सोचने लगते हैं कि वह ग़लत जिद पकड़कर बैठ गया है, तब हम क्या करें? भले ही मरता हो तो मर जाय !

८. उपवास से बलात्कार होता है यह कथन ही ग़लत है। बलात्कार में शारीरिक जबरदस्ती होती है। अपनी जिस मान्यता को मनुष्य धर्म जितना महत्त्व नहीं देता अथवा जिस मान्यता के पीछे उसका गहरा विचार नहीं होता और उपवासी के प्रति प्रेममाव होने के कारण या लोकमत का सम्मान करके उस मान्यता को छोड़ने के लिए या अपने मत को एक ओर रख देने के लिए मनुष्य तैयार हो जाय, तो कहा जायगा कि ऐसे उपवास में बलात्कार नहीं है। ऐसे मनुष्य की मान्यता अचल और अडिग नहीं होती। प्रेम के खातिर या लोकमत के खातिर वह अपनी मान्यता को गौण स्थान देता है। उपवासी के प्रति रहे प्रेम का अथवा उपवास से जाग्रत और संगठित हुए लोकमत का आदर करना वह अपना कर्तव्य समझता है।

९. परन्तु जिस मान्यता को मनुष्य अपना धर्म समझता है, उसे दूसरे के उपवास के कारण उसे छोड़ना नहीं चाहिए। गांधीजी ने कहा है कि मेरे विरुद्ध लाख आदमी उपवास करें, तो भी जिसे मैं अपना धर्म मानता होऊँ उसे मैं उपवास के कारण नहीं छोडूँगा।

१०. सामान्यतः किसीकी सहानुभूति में उपवास करना ठीक नहीं हैं। (महादेवभाई की डायरी-भाग २, प्रस्तावना, पृ॰ ६-७)

९. असहयोग

१. जहाँ पहले सहयोग से दोनों पक्षों का व्यवहार चल रहा हो, वहीं असहयोग-रूपी सत्याग्रह का प्रयोग किया जा सकता है।

२. जहाँ असहयोगी की मदद के बिना दूसरे का काम चल सकने की स्थिति हो, वहाँ असहयोग का अर्थ दूसरे पक्ष का त्याग अथवा अपनी शुद्धि ही होगा। सत्याग्रह में इसकी भी गुंजाइश है। जैसे, मालिक को दूसरे कई नौकर मिल सकते हों, तो भी मालिक के अधर्म में हाथ न बँटाने की इच्छा रखनेवाला नौकर अपना त्यागपत्र दे दे, अथवा दूसरे बहुतेरे कलवार का धंधा करने को तैयार बैठे हों वहाँ कोई कलवार का धंधा छोड़ दे, उस दशा में इस प्रकार का असहयोग होता है। इसी प्रकार हठपूर्वक अधर्म करनेवाले कुटुम्बी, मित्र इत्यादि का त्याग भी ऐसा ही असहयोग है।

३. जहाँ परिस्थिति ऐसी हो कि अपनी मदद के बिना दूसरे पक्ष का व्यवहार चल ही न सके, वहाँ असहयोग अधिक उग्र सत्याग्रह बन जाता है। इस कारण ऐसा कोई कदम उठाने से पहले सत्याग्रही को अपना मार्ग स्पष्ट धर्म के रूप में दीखना चाहिए। यहाँ सत्याग्रही इस बात को भूलता नहीं कि प्रतिपक्षी का काम उसके बिना चलनेवाला नहीं है। इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर वह अपने बलाबल का विचार करता है। अतएव हो सकता है कि ऐसे असहयोग का उपयोग प्रतिपक्षी को सताने के लिए भी हो।

४. जब दूसरा पक्ष अपने सहयोग का केवल दुरुपयोग करता दीखे और उसके कारण निर्दोषों को कष्ट पहुँचता दीखे, तब ऐसा असहयोग उचित और आवश्यक ही माना जायेगा।

५. विरोधी के जो काम अपनी प्रत्यक्ष मदद के बिना चल ही न सकें, असहयोगी अपनी ओर से उनमें मदद पहुँचाना बन्द कर देगा; जिन कामों में उसकी प्रत्यक्ष मदद नहीं होती, बल्कि विरोधी को महत्त्व देने अथवा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में मदद होती है, वहाँ वह वैसी मदद देना बन्द करेगा और उससे स्वयं उसे जो लाभ होते होंगे उन्हें छोड़ देगा।

६. असहयोग का लक्ष्य यह है कि विरोधी को इस बात का अनुभव कराया जाय कि सत्याग्रही पक्ष की मदद के बिना वह अपना तंत्र चला ही नहीं सकता। इसलिए सत्य-अहिंसा आदि साधनों द्वारा उस तंत्र अथवा संगठन को ठप्प करने तक असहयोग का विस्तार किया जा सकता है।

७. इस असहयोग में किस क्रम से और कितने तीव्र उपायों का अवलम्बन करना चाहिए, इसका पता अनुभव से ही चल सकता है। किन्तु असहयोग का अवलम्बन करनेवाले को यह प्रतीति हो जानी चाहिए कि विरोधी का कृत्य अथवा तंत्र इतना दुष्ट है कि उसके स्थान पर दूसरे तंत्र के तुरन्त खड़े न हो सकने पर भी उसका टूट जाना अधिक इष्ट है।

८. चूँकि असहयोग का दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए सत्याग्रही असहयोग और असत्याग्रही असहयोग के बीच बहुत बारीकी से भेद करना चाहिए। सत्याग्रह में स्वयं दुख ओढ़ लेने की बात होती ही है; अतएव यदि असहयोग करनेवाले को कुछ भी कष्ट उठाना न पड़े, तो बहुत संभव है कि वह असहयोग सत्याग्रही न हो।

१०. सविनय अवज्ञा

१. सविनय अवज्ञा दो प्रकार की हो सकती है: किसी खास अन्यायपूर्ण आदेश या कानून का, उसी आदेश या कानून को रद कराने के लिए; और असहयोग के खास कदम के तौर पर साधारणत: उन सब कायदों की अवज्ञा, जिन में धर्म अथवा नीति की बाधा खड़ी न होती हो और निर्दोष या तटस्थ जनता को अनुचित अड़चन पहुँचाये बिना जिन्हें तोड़ा जा सकता हो।

२. मनुष्य यह समझकर चोरी से नहीं बचता कि राज्य का ऐसा कोई कानून है, बल्कि यह समझकर बचता है कि चोरी करना अधर्म है। इस कारण सविनय अवज्ञा में ऐसे कानून तोड़े नहीं जा सकते।

३. गाड़ी ग़लत हाथ पर न चलाना, सड़क पर आने-जानेवालों के नियमन के लिए खड़े पुलिस सिपाही की आज्ञा मानना, रात देर तक शोरगुल न करना, महत्त्व के कारण के बिना रेलगाड़ी की जंजीर न खींचना आदि आदेशों की अवज्ञा करने से निर्दोष और तटस्थ लोगों को अकारण अड़चन होती है, इसलिए ऐसे आदेशों की भी अवज्ञा नहीं की जा सकती।

४. लेकिन जब मनुष्य राज्य के प्रति असन्तोष प्रकट नहीं करता, तो उसके दो कारण होते हैं: एक, वह राज्य की ओर से सन्तुष्ट होता है और इस कारण उसके प्रति उसकी भक्ति होती है; दो, वह कायदे से डरता है। सत्याग्रही कायदे से डरकर राज्य के प्रति असन्तोष प्रकट करने से रुकेगा नहीं और जहाँ सविनय अवज्ञा की आवश्यकता खड़ी होगी, वहाँ वैसा करना अपना कर्तव्य भी समझेगा।

५. इसी प्रकार मर्यादा में रहकर, अपने देश के किसी भी प्रदेश में जाने और रहने तथा शान्तिपूर्ण जुलूस निकालने, सम्मेलन करने, सभा बुलाने, लोक-सेवा के काम करने, अनुचित कार्यों के विरोध में धरना आदि देने और उसकी व्यवस्था करने का साधारण

अधिकार आम जनता को होता है। यदि सरकार की ओर से इस अधिकार पर रोक लगाई जाय, तो सत्याग्रही नीचे लिखे कारणों से उस आज्ञा का पालन करेगा:

(क) सरकार ने प्रतिबन्धक आदेश निकालने के लिए जो कारण दिये हों वे उसे उचित लगते हों;

(ख) इस प्रकार के आदेशों की अवज्ञा करने से संभव है कि सरकार और जनता के बीच के झगड़े के मूल मुद्दे एक तरफ रह जायँ और कोई अप्रस्तुत मुद्दे महत्त्व के बन जायँ और जनता का ध्यान मूल मुद्दों से हट जाय और ऐसे छोटे मुद्दों पर केन्द्रित हो जाय। ऐसे कारण न हों, तो इस प्रकार के आदेशों के विरोध में सविनय अवज्ञा-रूप सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. इसी प्रकार सत्याग्रही यह सोचकर राज्य को कर देता है कि उसे टिकाये रखना इष्ट है। यदि उसे विश्वास हो जाय कि इस राज्यतंत्र का नाश करना ही धर्म है, तो वह राज्य को कर देने के कानूनों की अवज्ञा कर सकता है; किन्तु इसके साथ ही वह राज्य की तरफ से किसी भी प्रकार का लाभ प्रयत्नपूर्वक स्वीकार नहीं करेगा।

७. जहाँ जनता का अपना राज्य हो अथवा सरकार और जनता के बीच साधारणत: सहयोग हो अथवा तीव्र कलह का अभाव हो, ऐसी स्थिति में भी व्यक्तिगत रूप से कुछ अधिकारी ग़लत समझ के कारण अथवा अधिकार के मद में आकर संभव है कि कोई अन्यायपूर्ण आदेश निकालें। इस प्रकार के छुट-पुट अन्यायी आदेशों को सविनय अवज्ञा का विषय बनाना सदा उचित नहीं होता। यह नहीं मान लेना चाहिए कि ऐसे अन्यायों को पी जाने से नुकसान ही होता है; उलटे, ऐसे अवसरों पर जनता और नेता जिस धीरज और उदारता से काम लेते हैं, वह आम लोगों के लिए शिक्षाप्रद सिद्ध होती है। जो लोग इस प्रकार, भय से नहीं, किन्तु विचारपूर्वक अन्यायों को सहना और आज्ञाओं का पालन करना जानते हैं, वे ही अवसर आने पर सविनय अवज्ञा भी भली-भांति कर सकते हैं।

८. यदि सत्याग्रही को लगे कि सविनय अवज्ञा का आन्दोलन ऐसा रूप धारण कर रहा है, जिस से विरोधियों अथवा तटस्थ लोगों के जान-माल को हानि पहुँचे अथवा वे

अनुचित रूप से सताये जायँ और यह अनुभव करे कि वह स्वयं उसे रोकने में असमर्थ है, तो वह तुरन्त ही उस आन्दोलन को रोक देगा और अपनी सारी शक्ति इस प्रकार के नुकसान और त्रास को रोकने में खर्च करेगा।

११. न्यायालय में सत्याग्रही का व्यवहार

१. कानून की सविनय अवज्ञा का संकल्प करनेवाला सत्याग्रही उस अवज्ञा के परिणाम-स्वरूप हो सकनेवाली पूरी सजा भोगने को तैयार रहेगा ही।

२. इस कारण जब कोई अधिकारी ऐसे कानून को तोड़ने का अभियोग लगाकर उसे गिरफ्तार करने आवे, तो वह बिना किसी आनाकानी के गिरफ्तार हो जाय।

३. असल में यह हो सकता है कि सत्याग्रही ने कानून की अवज्ञा की ही न हो, फिर उसके विरुद्ध झूठा प्रमाण प्रस्तुत करके यह दिखाया जाय कि उसने कानूनकी अवज्ञा की है। जब ऐसा हो तो सत्याग्रही अदालत के काम-काज में कुछ भी हिस्सा न ले और अपना बचाव भी न करें। चूँकि वह स्वयं कानून की अवज्ञा करना ही चाहता था, इसलिए बिना अवज्ञा किये ही उसे सजा की जाती हो, तो वह उसे स्वागत-योग्य हीं मानेगा।

४. यदि उसने कानून की अवज्ञा की ही हो, तो वह अपना अपराध स्वीकार कर ले और सजा माँग ले।

५. बचाव न करने के मामले में नीचे लिखे अपवाद हैं:

(क) सत्याग्रह के सिद्धांत के विरुद्ध होने से जिस प्रकार का अपराध करने का उसका कोई विचार ही न हो, यदि वैसे किसी अपराध का अभियोग उस पर लगाया जाय, तो सत्य की खातिर वह अपना बचाव करे। उदाहरण के लिए, हत्या के अभियोग में।

(ख) सत्याग्रहियों के अथवा अधिकारियों के व्यवहार अथवा नीति के सम्बन्ध में ऐसा कोई प्रश्न खड़ा हुआ हो कि जो सिद्धान्त का या सार्वजनिक महत्त्व का विषय हो और उसमें सत्य प्रकट करने की आवश्यकता मालूम होती हो, तो उस हालत में बचाव करना पड़ सकता है। उदाहरण के लिए, यह विश्वास हो जाने पर कि पुलिस ने अत्याचार किया है, सत्याग्रही इस वस्तुस्थिति को प्रकट करें और यह बात ग़लत है ऐसा प्रतिपादन करके ग़लत जानकारी छपाने के लिए उस पर मामला चलाया

जाय; अथवा सत्याग्रही पर यह आक्षेप किया जाय कि वह मारकाट और उपद्रव को भड़काता है।

(ग) अधिकारियों ने जब अति उत्साह से या ग़लतफहमी से ऐसे हुक्म निकाले हों जैसे हुक्म निकालने की सरकार की धारणा न होने का विश्वास करने का कारण हो तथा वे हुक्म जिस कानून के अनुसार निकाले गये हों वह कानून इस तरह के हुक्म निकालने की सत्ता देता है ऐसा विश्वास करने की गुंजाइश न हो और यह पता चले कि उन हुक्मों के परिणाम-स्वरूप ऐसे सामान्य लोगों को भी जिन का सत्याग्रह करने का इरादा नहीं था भारी मुसीबतें भोगनी पड़ रही हैं, तब सत्याग्रही के लिए अपना बचाव करने की ज़रूरत खड़ी हो सकती है।

६. सत्याग्रही अदालत के काम में हाथ न बँटाये, इसका अर्थ यह नहीं कि वह अदालत के प्रति तुच्छता का या अविनय का बर्ताव करें अथवा असत्याचरण करें। उलटे, यह ज़रूरी है कि वह किसी अधिकारी का अपमान न करें, उसकी हँसी न उड़ाये अथवा उसे तिरस्कारपूर्ण उत्तर न दे। साथ ही, वह अपना नाम-ठाम भी न छिपाये; लेकिन यदि अधिकारी मामले से सम्बन्ध न रखनेवाली अथवा दूसरे आरोपियों या लोगों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें पूछे, तो उनका जवाब देना सत्याग्रही के लिए लाजिमी नहीं है, और वह ऐसे जवाब देने से विनय-पूर्वक इनकार कर सकता है।

७. सत्याग्रही के पुलिस के कब्जे में होने पर उसे नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने और सलाहकारों तथा मित्रों से मिलाने आदि की सुविधा देना और उसके साथ सभ्यता का व्यवहार करना पुलिस का कर्तव्य है; इसी प्रकार सत्याग्रही का कर्तव्य है कि वह पुलिस के प्रति विनयपूर्वक बरते। यदि पुलिस की ओर से अड़चन, परेशानी, असभ्यता या मारपीट की जाय, तो सत्याग्रही को इसकी सही जानकारी पुलिस के अधिकारी तक (यदि वह मिल सके) पहुँचानी चाहिए; और न मिल सके या ध्यान न दे सके तो मजिस्ट्रेट के सामने रखना चाहिए। लेकिन यदि मजिस्ट्रेट भी ध्यान न दे, तो सरकार की सम्मति से ये कष्ट दिये जा

रहें हैं यह समझकर तथा अपने सलाहकारों को सारी बातों की जानकारी देकर वह शान्त रहे।

८. यदि सत्याग्रही को जुर्माने की सजा हो, तो वह जुर्माना कभी न दे, न किसी और को देने के लिए प्रेरित करे, बल्कि न देने का धर्म समझाये और उसके बदले में कैद की सजा भुगत ले।

९. यदि जुर्माना वसूल करने के लिए उसके घर जब्ती पहुँचे, तो वह अपनी सम्पत्ति जब्त होने दे; और ऐसा करने से अधिक हानि हो, तो उसे भी सहन कर ले, लेकिन खुद जुर्माने की रकम निकालकर न दे। क्यों कि जिसने अपने सत्त्व की रक्षा के लिए कानून तोड़ा है, वह तो उसके लिए सर्वस्व देने को तैयार ही होता है। अतएव अपने हाथों जुर्माना अदा करके वह अपनी सत्त्व-हानि न होने दे।

१०. सत्याग्रही जेल में ऊँची श्रेणी प्राप्त करने का प्रयत्न न करे। श्रेणी-विभाजन के नियमों के मूल में किसी हद तक सत्याग्रहियों और साधारण कैदियों और सत्याग्रही सत्याग्रही के बीच भी फूट डालने का हेतु रहता है। इसीमें से ईर्षा, भय और लालच भी प्रकट होते हैं। इसका अमल भी प्राय: निरंकुश रीति से होता है और श्रेणी घटाकर अधिक सजा देने का हेतु इसमें रहता है | अतएव श्रेणी-विभाजन की नीति ही उचित नहीं है। फिर भी सत्याग्रही को जो श्रेणी मिली हो उसकी सुविधाओं का उपभोग वह करें, तो उसे सत्य का भंग नहीं कहा जायेगा।

१२. जेल में सत्याग्रही का व्यवहार

१. सत्याग्रही जेल में भी अपनी सभ्यता और विनय कभी न छोड़े।

२. जेल के नियमों को तोड़ने के लिए नहीं, बल्कि पालने की वृत्ति से वह जेल में अपने जीवन का क्रम रखे और जहाँ महत्त्व के सिद्धान्त का अथवा स्वाभिमान का प्रश्न हो वहीं नियम का विरोध करने को प्रेरित हो। अतएव वह जेल में चोरी-छिपे कुछ लाये नहीं, किसीको घूस-रिश्वत दे नहीं और नियम के बाहर की कोई सुविधा प्राप्त करने के लिए किसीकी खुशामद करे नहीं|

३. श्रम करना केवल जेलका नियम नहीं, बल्कि कुदरत का अथवा धर्म का नियम है। इसलिए जेल के नियम के अनुसार सौंपे गये काम को स्वीकारने और करने में सत्याग्रही दिल न चुराये।

४. जिस काम या समय के पैमाने को अपने स्वास्थ्य के या दूसरे कारण से वह साध न सके, उसके बारे में नम्रतापूर्वक अधिकारी का ध्यान आकर्षित करे। इतने पर भी यदि उसे वह सौंपा जाय, तो उसे करने का प्रयत्न करें और जो दुःख हो, सो सह ले।

५. डॉक्टरी जाँच के समय वह अपने रोग सच-सच बता दे। यदि स्वयं किसी छूतवाले रोग से पीड़ित हो, तो इस हक़ीकत को छिपाये नहीं।

६. कैदी अपने धर्म या नियम के विरुद्ध दवा अथवा उपचार कराने के लिए बाध्य नहीं है; लेकिन इस कारण वह किसी दूसरे प्रकार की दवा अथवा उपचार की माँग अधिकारपूर्वक नहीं कर सकता। चेचक का टीका लगवाने जैसे कुछ उपचार न कराने के लिए वह सजा का हकदार भी माना जाता है। यदि कैदी का अपना सच्चा धार्मिक आग्रह है, तो वह उसके लिए सजा भुगत ले, लेकिन सजा भुगतने की तैयारी होने के कारण ही झूठ-मूठ धार्मिक स्वरूप देकर आग्रही न बने।

७. अपने स्वास्थ्य के सिलसिले में जो शिकायत हो और जिस सहूलियत की ज़रूरत हो, उसकी जानकारी वह सक्षम अधिकारी को दे। लेकिन अगर संतोषजनक सुनवाई न

हो, तो उसे भी सत्याग्रह के कष्टों में से एक मान कर शान्तिपूर्वक सहन कर ले। पर इस प्रकार की कोई सहूलियत चोरी से हासिल करके वह अपनी तन्दुरुस्ती संभालने की कोशिश न करे | अपनी तन्दुरुस्ती को इस तरह संभालने से अधिकारी यही मानेगा कि उसकी जो माँगें थी, वे अनुचित थीं।

८. यदि उसके अपने कोई ऐसे व्रत-नियम हों, जिनका पालन जेल में भी अनिवार्य हो, तो सक्षम अधिकारी से इसकी चर्चा करके उचित सुविधा माँग लेनी चाहिए। इस प्रकार के विशेष व्रत-नियमवाले जेल के ही खर्च से उनका पालन करने का आग्रह नहीं रख सकते। इसलिए यदि निज के खर्च से उन व्रत-नियमों को पालने की छूट मिले, तो उससे उन्हें सन्तोष मानना चाहिए। अगर ऐसी छूट न मिले, तो उन्हें व्रत-पालन के लिए जो कष्ट सहने पड़े, सो सहने चाहिए।

९. सत्याग्रही को जेल के दिनों में ही पालने योग्य कोई खास व्रत-नियम नहीं लेने चाहिए।

१०. कैदी का यह कर्तव्य नहीं है कि वह मार या गाली खाये अथवा जूठा, गन्दा, कच्चा, सड़ा हुआ अथवा जीव-जन्तुवाला भोजन करे। अतएव उसे ऐसी चीजें सहन नहीं करनी चाहिए। मार-पीट अथवा गाली-सम्बन्धी शिकायत सुनी न जाय, तो अधिक मार, गाली अथवा सजा का खतरा उठाकर भी वह काम करने से इनकार कर सकता है और ज़रूरत पड़ने पर उपवास भी कर सकता है।

११. वह न खाने योग्य खुराक खाने से इनकार करे और उसके लिए जो सजा मिले, उसे सहन कर ले।

१२. सत्याग्रही अपने या अपनी ही श्रेणी के कैदियों के लिए जेल के व्यवहार में सुधार कराने अथवा सुविधायें पाने के लिए सत्याग्रह न करे—सिवा इसके कि वैसा अन्यायपूर्ण व्यवहार केवल उसके अथवा उसकी श्रेणी के कैदियों के साथ ही होता हो। लेकिन समूचे जेल की व्यवस्था में जो सुधार कराने जैसे हों और उनके लिए उपयुक्त कारण और परिस्थिति भी हो, तो वह सत्याग्रह करें।

१३. यदि सत्याग्रही का व्यवहार ऐसा हो कि जिस से जेल की व्यवस्था भलीभांति चल सके, तो चूँकि ऐसा सहयोग सत्याग्रह के सिद्धांत का विरोधी नहीं है, इसलिए इस प्रकार की सब मदद अधिकारियों को देना सत्याग्रही का धर्म है। लेकिन सत्याग्रही जेल के बोर्डर अथवा वॉच-मेन आदि के अधिकार स्वीकार न करें।

१४. सत्याग्रही रियारात के दिन बढ़वाने की लालसा न रखे।

१५. स्वराज्य के लिए किये जानेवाले सत्याग्रह का उद्देश्य समूची राज्य-व्यवस्था को ही जड़मूल से बदलने का है। अतएव सत्याग्रही जेल में ऐसी कोई लड़ाई न छेड़े, जो जेल-व्यवस्था के सुधार की एक स्वतंत्र लड़ाई का रूप ले ले; बल्कि अक्षम्य, अमानुषी व्यवहार या नियम के विरेध में ही मौका पड़ने पर लड़े।

१३. सत्याग्रहों की नियमावली

थोड़ा पुनरुक्ति-दोष तो होगा, फिर भी २३ फरवरी, १९३० के 'नवजीवन' में गांधीजी ने सत्याग्रही की जो नियमावली दी थी, वह इस खंड की योग्य पूर्ति का काम करेगी। उससे इस खंड का सुन्दर उपसंहार भी हो जायेगा:

१. सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। इस आग्रह के कारण मनुष्य को अतुलित बल मिलता है। हम इस बल को सत्याग्रह के नाम से पहचानते हैं।

२. यदि सत्य का आग्रह सच हो, तो उसकी रक्षा माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि के विरोध में, राजा-प्रजा के विरोध में और अन्त में समूचे संसार के विरोध में करनी होती है।

३. ऐसे व्यापक आग्रह के सामने स्वजन या परजन, बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष का भेद नहीं रहता। सत्याग्रह में किसीके विरुद्ध शरीर-बल का उपयोग किया ही नहीं जा सकता। इसलिए जो बल शेष रहता है वह अहिंसा का प्रेम का बल ही हो सकता है। इस बल का दूसरा नाम है आत्मा का बल।

४. प्रेम का बल दूसरे को नहीं जलाता, खुद ही जलता है। इसलिए सत्याग्रही में मौत तक का कष्ट हंसते मुँह सहने की शक्ति होनी चाहिए।

५. इससे यह स्पष्ट होता है कि सत्याग्रही प्रतिपक्षी का अतिशय विरोध करते हुए भी मन, वचन अथवा काया से प्रतिपक्ष के किसी भी व्यक्ति का अहित न तो चाहेगा और न करेगा।

इस विचारधारा में से असहयोग, सविनय अवज्ञा इत्यादि उत्पन्न हुए हैं।

६. जो सत्याग्रह की इस उत्पत्ति को याद रखेंगे, वे नीचे लिखे नियमों को सरलता से समझ सकेंगे:

(१) सत्याग्रही किसी पर भी गुस्सा नहीं करेगा!

(२) वह विरोधी के गुस्से को सह लेगा।

(३) गुस्सा सहन करते हुए वह विरोधी की मार सहेगा, लेकिन उसे खुद कभी मारेगा नहीं; इसी प्रकार गुस्से में दिये गये उसके उचित अथवा अनुचित आदेश का भी वह मार के या दूसरे डर से पालन नहीं करेगा।

(४) सिपाही कैद करने आये, तो वह खुशी से कैद हो जायेगा। उसकी सम्पत्ति जब्त करने आये, तो उसे खुशी-खुशी दे देगा।

(५) दूसरे की जो सम्पत्ति उसकी निगरानी में होगी, उसका कब्जा वह मरते दमतक नहीं छोड़ेगा; फिर भी कब्जा करने के लिए आनेवाले को मारेगा नहीं।

(६) नहीं मारने का मतलब है गाली भी न देना।

(७) अतएव सत्याग्रही विरोधी का अपमान नहीं करेगा। आज-कल के कुछ प्रचलित नारे हिंसक है और सत्याग्रही के लिए वे सर्वथा त्याज्य हैं।

(८) सत्याग्रही अंग्रेजी झंडे को सलाम नहीं करेगा, पर उसका अपमान भी नहीं करेगा। वह किसी अधिकारी या अंग्रेज का भी अपमान नहीं करेगा।

(९) यदि लडाई के सिलसिले में कोई किसी अंग्रेज का अथवा सरकारी अधिकारी का अपमान करे या उस पर हमला करे, तो सत्यागही अपने प्राणों को संकट में डालकर भी उसकी रक्षा करेगा।

कैद के बारेमें

(१०) गिरफ्तार हो जाने पर सत्याग्रही स्वाभिमान को ठेस न पहुँचानेवाले जेल के सब नियमों का पालन करेगा और अधिकारियों के साथ विवेकपूर्ण व्यवहार करेगा। उदाहरण के लिए, वह मामूली तौर पर अधिकारी को सलाम करेगा; लेकिन नाक रगड़ने को कहा जायेगा तो नहीं रगड़ेगा। वह 'सरकार की जय बोलो' नहीं कहेगा। जेल का ऐसा स्वच्छ भोजन, जिसमें धर्म की बाधा न हो, वह करेगा; लेकिन कचरेवाला या सड़ा हुआ या गन्दे बरतन में परोसा हुआ अथवा अपमानपूर्वक दिया गया भोजन वह नहीं करेगा।

(११) सत्याग्रही हत्यारे कैदी और अपने बीच कोई फरक नहीं करेगा। अतएव अपने को उससे ऊँचा बताकर या मानकर अपने लिए विशेष सुविधाएँ नहीं मांगेगा, लेकिन शरीर की अथवा आत्मा की आवश्यकता के निमित्त से खड़ी होनेवाली ज़रूरी सुविधाएँ माँगने का अधिकार उसे रहेगा।

(१२) जिन के कारण स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचती ऐसी सुविधाएँ न मिलने पर सत्याग्रही उपवास आदि नहीं करेगा।

दल के बारेमें

(१३) अपनी टुकड़ी के सरदार द्वारा जारी किये गये सब हुक्म सत्याग्रही खुशी-खुशी पालेगा, फिर चाहे वे उसे रुचें या न रुचें।

(१४) हुक्म अपमानजनक, द्वेषपूर्ण अथवा मूर्खतापूर्ण मालूम हो, ती भी उसका पालन करने के बाद ही वह अधिकारी से उसकी शिकायत करे। दल में सम्मिलित होने से पहले सत्याग्रही को सम्मिलित होने के औचित्य के बारे में विचार करने का अधिकार है। सम्मिलित होने के बाद दल के कड़वे-मीठे नियमों का और उसके अनुशासन का पालन करना धर्मरूप हो जाता है। दल के समग्र व्यवहार में अनीति दिखाई दे, तो सत्याग्रही दल से अलग हो सकता है, पर दल में रहकर नियम-भंग करने का उसे अधिकार नहीं।

(१५) किसी सत्याग्रही को किसी से अपने आश्रितों के भरण-पोषण की आशा नहीं रखनी चाहिए। किसीके लिए कुछ प्रबंध हो सके, तो उसे अनपेक्षित समझना चाहिए। सत्याग्रही अपने को और अपने आश्रितों को ईश्वरकी शरण में छोड़ दे। शरीर-बल के युद्ध में जहाँ लाखों लड़ते हैं, वहाँ भी किसी का आधार नहीं लिया जाता। फिर सत्याग्रही युद्ध के विषय में तो पूछना ही क्या? सार्वभौम अनुभव यह है कि ईश्वर ने ऐसों को कभी भूखों मरने नहीं दिया।

साम्प्रदायिक दंगों में

(१६) सत्याग्रही कभी जानबूझकर साम्प्रदायिक कलह अथवा झगड़े का निमित्त न बने।

(१७) साम्प्रदायिक दंगे की हालत में वह किसी पक्ष की हिमायत न करे। जिस ओर न्याय हो, उसको मदद करें। खुद हिन्दू हो तो मुसलमान आदि के प्रति उदारता का व्यवहार करें और उन्हें हिन्दुओं के हमले से बचाते हुए मर-मिटे। अगर हिन्दुओं पर मुसलमान आदि के हमले होते हों, तो हिन्दुओं को उनसे बचाते हुए वह अपने प्राण दे दे, पर खुद कभी अपनी तरफ से हमले में शरीक न हो।

(१८) जहाँ तक सम्भव हो, वह साम्प्रदायिक दंगों को भड़कानेवाले प्रसंगों से बचे।

(१९) यदि सत्याग्रही कोई जुलूस निकाले, तो वह ऐसा कोई काम न करे, जिस से किसी भी सम्प्रदाय की भावना को चोट पहुँचे। किसी संप्रदाय की भावना को चोट पहुँचानेवाले उस जुलूस में वह शरीफ न हो, जो दूसरों के द्वारा निकाला गया हो।

१४. सत्याग्रही की योग्यता

(२६ मार्च, १९३९ के 'हरिजनबन्धु' में गांधीजी ने इस देश के हरएक सत्याग्रही के लिए नीचे लिखी कम से कम योग्यताएँ आवश्यक मानी हैं :)

१. उसे ईश्वर पर ज्वलन्त श्रद्धा होनी चाहिए; क्यों कि वही एकमात्र अटूट आधार है।

२. सत्य और अहिंसा में उसकी आस्था धार्मिक होनी चाहिए और फलतः मनुष्य-स्वभाव के मूल में रही भलाई में उसका विश्वास होना चाहिए। सत्य और प्रेम के रास्ते स्वयं दुःख सहकर इस भलाई को जगाने की आशा वह हमेशा रखे।

३. वह शुद्ध जीवन बितानेवाला हो और अपने कार्य के लिए खुशी-खुशी अपने जान-माल सहित सर्वस्व का बलिदान करने के लिए सदा तैयार हो।

४. वह सतत खादीधारी हो और कातनेवाला हो। हिन्दुस्तान के लिए यह चीज महत्त्व की है।

५. वह निर्व्यसनी हो और सब प्रकार की मादक वस्तुओं से मुक्त हो। इसके कारण उसकी बुद्धि हमेशा निर्मल और उसका मन निश्चल रहेगा।

६. समय-समय पर बननेवाले अनुशासन-सम्बन्धी नियमों का पालन वह प्रसन्नता से और आग्रहपूर्वक करे।

७. वह जेल के नियमों का पालन करें, सिवा इसके कि जहाँ उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचाने के लिए हीं खास तौर पर कोई नियम बनाये गये हों।

१५. सामुदायिक सत्याग्रह

१. किसी भी स्थान पर सामुदायिक सत्याग्रह करने के लिए नीचे लिखी अनुकूलताएँ आवश्यक हैं। इन अनुकूलताओं के अभाव में सामुदायिक सत्याग्रह शुरू करने से हिंसा प्रकट हो सकती है, आपस-आपस में और जिसके विरोध में सत्याग्रह किया गया हो उसके साथ शत्रुता या कटुता बढ़ सकती है और अन्त में बलात्कार या दमन के परिणाम-स्वरूप हो सकता है कि जनता भयभीत हो जाय और अधिक दब जाय।

(१) सत्याग्रह का संयोजन करने के इच्छुक नेताओं में परस्पर सम्पूर्ण विश्वास और एकरसता होनी चाहिए। यदि एक-दूसरे की नीयत के बारे में शंका हो अथवा नेता की विचारधारा के बारे में अविश्वास या अर्ध-विश्वास हो, तो इसे सामुदायिक सत्याग्रह के लिए एक प्रतिकूल परिस्थिति मानना चाहिए।

(२) यदि सत्याग्रह चलाने के इच्छुक नेताओं में भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारों के लोग हों, तो सत्याग्रह के तात्कालिक उद्देश्य के विषय में उनके बीच स्पष्टता होनी चाहिए और सत्याग्रह के चलते भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनीतिक विचारों के वाद-विवादों को अथवा उस दृष्टि से होनेवाली टीकाओं को बन्द करने के लिए सबको एकमत होना चाहिए।

(३) जनता पर सत्याग्रही नेताओं का इतना काबू होना चाहिए कि उनके द्वारा दी गई सूचनाओं पर वह प्रसन्नता से और आग्रहपूर्वक अमल करें; उनके द्वारा मना किये गये काम कभी न करे।

(४) जनता का नेताओं पर इतना विश्वास होना चाहिए कि विरोधियों की ओर से नेताओं के बारे में कैसी भी बातें क्यों न कही जायँ, लोग उनके कारण अपना बुद्धि-भेद न होने दें।

(५) स्वराज्य अथवा उत्तरदायी शासन-विधान प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह चलाना हो, तो उसका आरंभ करने से पहले ही महत्त्व के साम्प्रदायिक प्रश्नों के बारे

में समझौता हो जाना चाहिए। परिस्थिति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि इस प्रकार के प्रश्नों को खड़ा करके विरोधी फूट डाल सकें।

(६) 'सत्याग्रही की योग्यता' वाले प्रकरण में दी गई शर्तों को पूरा न कर सकनेवाले, किन्तु उनमें विश्वास रखनेवाले लोग सत्याग्रह के तीव्र अर्थात् जोखिमभरे कार्यक्रम में सम्मिलित न हों, किन्तु वे बाहर रहकर जनता के रचनात्मक कार्यक्रमों को भली-भांति चलावें और उनकी जिम्मेदारी उठा लें। जनता इसमें पूरा सहयोग दें।

२. सत्य-अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने के लिए साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, व्यापक खादी-प्रचार और शराब बन्दी के बारे में जनता के बीच भारी बहुमत न हो और सत्याग्रह में रस लेनेवालों के बीच सम्पूर्ण एकमत न हो, तो यह नहीं कहा जा सकता कि सामुदायिक सत्याग्रह के लिए परिस्थिति अनुकूल है। तब तक सच्चा स्वराज्य असंभव ही है।

३. सत्याग्रहकी किसी भी लड़ाई के पहले अथवा लड़ाई के बीच विरोधी संगठन अथवा अधिकारी के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिए और इस प्रकार की भाषा नहीं बरती जानी चाहिए कि जिस से वैसी भावना पैदा हो। यदि प्रचारकों को ऐसा करने से रोका न जा सके, तो यह स्थिति सत्याग्रह के लिए अनुकूल नहीं मानी जानी चाहिए।

४. गुप्त प्रबंध किये बिना सत्याग्रह के जारी रहने में शंका मालूम होती हो, तो वह स्थिति उसके अनुकूल नहीं मानी जायेगी।

५. जब तक अनुकूल परिस्थिति न हो, तब तक चतुर्विध रचनात्मक कार्यक्रम और दूसरी सेवाएँ करते रहना ही स्वराज्य की साधना है। कई वर्षों तक ऐसा करना ज़रूरी हो जाये, तो भी उसमें कोई हानि नहीं। वह प्रगति ही है। उसमें पिछड़ने की कोई बात नहीं।

खण्ड पाँचवाँ: स्वराज्य

१. रामराज्य

१. रामराज्य स्वराज्य का आदर्श है। इसका अर्थ है धर्म का राज्य, अथवा न्याय और प्रेम का राज्य, अथवा अहिंसक स्वराज्य, अथवा जनता का स्वराज्य |

२. [१]जनता के स्वराज्य का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति के स्वराज्य में से उत्पन्न लोकसत्ताक राज्य। ऐसा राज्य तभी उत्पन्न होता है, जब प्रत्येक व्यक्ति नागरिक के नाते अपने धर्म का पालन करता है।

३. (क) इस स्वराज्य में किसीको अपने अधिकार का विचार तक नहीं होता। जब अधिकार आवश्यक होता है, तो अपने-आप दौड़ा आता है। ऐसे स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकार जानने की ज़रूरत नहीं होती, बल्कि अपने धर्म को जानने और पालने की आवश्यकता होती है। क्यों कि कोई कर्तव्य ऐसा नहीं जिसके अन्त में कुछ-न-कुछ अधिकार न हो; और सच्चे हक और अधिकार वे हैं, जो केवल पाले हुए धर्म के कारण उत्पन्न होते हैं।

(ख) जो सेवा-धर्म का पालन करता है, उसको नागरिक के सच्चे अधिकार मिलते हैं और वही उन्हें पचा पाता है।

(ग) इसी प्रकार जो झूठ न बोलने का (अर्थात् सत्य का) और मार-पीट न करने का (अर्थात् अहिंसा का) धर्म पालता है, उसे जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह उसको अनेक अधिकार दिला देती है। और ऐसा आदमी अपने अधिकार का उपयोग भी सेवा के लिए करता है, स्वार्थ के लिए कभी नहीं।

४. रामराज्य में एक ओर अटूट सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणाजनक भुखमरी नहीं होती; उसमें कोई भूखों नहीं मरता; वह राज्य पशुबल पर नहीं टिकता; बल्कि वह लोगों की प्रीति पर और उनके समझदारी-भरे, निर्भयतापूर्ण सहयोग पर टिकता है।

५. उसमें बहुसंख्यक अथवा बड़ी जात के लोग अल्पसंख्यक अथवा छोटी जात के लोगों को दबाते नहीं; बल्कि अल्पसंख्यक लोग भी बहुसंख्यकों के समान ही स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं और बड़ी जातवाले छोटी जातवालों के हितों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

६. वह करोड़ों का और करोड़ों के सुख के लिए चलनेवाला राज्य होता है। उसके संविधान में जिसे मुख्य अधिकारी का स्थान मिलता है, वह राजा कहलाता हो, राष्ट्रपति कहलाता हो या दूसरे किसी नाम से पहचाना जाता हो, जनता का सच्चा सेवक होने के कारण उसे वह पद मिलता है। वह जनता की प्रीति पर टिका होता है, जनता के कल्याण के लिए ही प्रयत्न करता है। वह जनता के पैसे से मौज-शौक का जीवन नहीं बिताता, अपने अधिकार के बल से जनता को नहीं सताता, बल्कि राजा अथवा उसके-जैसा माना जाने पर भी वह फकीर की तरह रहता है।

७. रामराज्य का अर्थ है कम से कम राज्य। इस राज्य में लोग अपना बहुतसा कारोबार आपस में मिलकर खुद ही चला लेते हैं। इसमें कानून बना-बनाकर उन्हें अधिकारियों की मदद से और सजा के डर से पलवाने की बात लगभग नहीं होती। कानूनों में सुधार करने के लिए जनता विधानसभाओं अथवा अधिकारियों की बाट जोहती हुई बैठीं नहीं रहती; बल्कि जिन सुधारों को जनताने रूढ़ कर दिया है, उनके अनुकूल कानून में सुधार करने के लिए विधानसभायें यत्न करती हैं और वैसी व्यवस्था करने के लिए अधिकारी प्रयत्नशील रहते हैं।

८. उसमें खेती का धंधा उन्नत होता है और दूसरे सब धंधे उसके सहारे निभते हैं। अन्न और वस्त्र के विषय में जनता स्वाधीन होती है और गाय-बैल की स्थिति समृद्ध होने से आदर्श गोरक्षा होती रहती है।

९. उसमें सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान भाव से परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं और उनके बीच धार्मिक झगड़े या हल की होड़ अथवा विरोधी स्वार्थ-जैसी कोई चीज होती ही नहीं।

१०. उसमें स्त्री का स्थान पुरुष के समान ही होता है।

११. उसमें कोई मनुष्य सम्पत्ति अथवा आलस्य के कारण निरुद्यमी नहीं रहता; कोई मेहनत करने पर भी भूखों मरनेवाला नहीं होता; किसीको काम-धंधे के अभाव में लाजिमी तौर पर आलसी नहीं रहना पड़ता।

१२. उसमें घर के अन्दर लड़ाई नहीं होती और न परराज्य के साथ ही लड़ाई होती है। उसमें दूसरे देशों को लूटने की, जीतने की, अथवा उनके व्यापार-उद्योग को या नीति को नष्ट करने की राजनीति का अस्वीकार होना चाहिए। उसे दूसरे राष्ट्रों के साथ मित्रभाव से रहना चाहिए।

१३. इस कारण रामराज्य में सेना पर होनेवाला खर्च कम से कम होना चाहिए।

१४. रामराज्य की जनता सिर्फ लिखने-पढ़ने की योग्यतावाली नहीं, बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षित होनी चाहिए; मतलब यह कि उसे मुक्ति देनेवाली और मुक्ति को दृढ़ रखनेवाली शिक्षा मिलनी चाहिए।

१५. यह किसी एक ही देश अथवा जनता के लिए उत्तम राज्य का आदर्श नहीं, बल्कि समूचे संसार के लिए आदर्श है। यदि यह एक जगह सिद्ध हो, तो इसकी छूत सारे संसार को लगनी चाहिए।

१६. इस स्थिति के प्राप्त होने पर राज्य-राज्य के बीच झगड़ों का कोई कारण ही नहीं रहेगा। अर्थात् युद्ध नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह सकेगी। सब मतभेद, विरोध और झगड़े अहिंसक मार्ग से ही मिटेंगे।

---

१. कंडिकायें (पैरा) २ और ३, १९ मार्च, १९३९ के 'हरिजनबन्धु' में छपे गांधीजी के लेख से ली गई हैं।

२. तंत्र-सुधार और संविधान-सुधार

१. तंत्र-सुधार और संविधान-सुधार के प्रश्न एक ही नहीं हैं।

२. तंत्र-सुधार का अर्थ है सत्ता का उपयोग करनेवाले अधिकारियों की जनता के साथ व्यवहार करने की समग्र मनोवृत्ति में सुधार करना।

३. संविधान के सुधार में विधानों की रचना के लिए और राज्य के विभिन्न विभागों पर निगरानी रखने के लिए और उसकी नीति निश्चित करने के लिए कितने लोगों को इकट्ठा होना चाहिए, वे किस प्रकार नियुक्त किये जाने चाहिए, उन्हें कहाँ बैठकर चर्चा करनी चाहिए, आदि बातों का विचार किया जाता है।

४. इधर कुछ समय से शासन-सम्बन्धी विधान के प्रश्न को उचित से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। इसके कारण असल बातें ध्यान के बाहर रह जाती हैं और हम राज्य के बाहरी रूप-रंग के विचार में उलझ जाते हैं।

५. शासन-विधान की बारीकियों और उनकी विभिन्न योजनाओं के सूक्ष्म भेदों और उनके महत्त्व को समझने की आशा देश के करोड़ों लोगों से नहीं रखी जा सकती। इस कारण वे इन विषयों के बारे में स्वयं विचार करने की रुचि नहीं दिखा सकते।

६. देश के करोड़ों अपढ़ देहातियों को अपने देश का शासन-विधान राजसत्ताक कहलाता है या प्रजासत्ताक, साम्राज्य का अंग कहलाता है या स्वतंत्र, वह छह हजार प्रतिनिधियों द्वारा चलता है अथवा छह सौ प्रतिनिधियों द्वारा, उसमें हिन्दू अधिक हैं या मुसलमान, आदि-आदि बातों का महत्त्व समझाना कठिन है और उनको इसकी चर्चा में उतारने से कोई बहुत लाभ भी होता दीखता नहीं।

७. उनके लिए तो महत्त्व का प्रश्न यह है कि उनके गाँव में रहनेवाले गाँव के मुखिया, पुलिस-अधिकारी या पटवारी उनके पास सत्ता का जोर चलाते, उन्हें डराते और रिश्वत माँगते हुए आते हैं अथवा उनके मित्र, सलाहकार और संकट के साथी बनकर रहते हैं; वे

अपने को मनमाने ढंग से जनता को हांकने के लिए नियुक्त छोटा या बड़ा अधिकारी मानते हैं अथवा जनता का सेवक समझते हैं?

८. साथ ही, जनता के लिए महत्त्व का प्रश्न यह है कि उस पर करों का बोझ अधिक है अथवा कम है, वे कर उससे किस प्रकार, किस रूप में और किस समय वसूल किये जाते हैं, और उन करों का उपयोग किन कामों में होता है?

९. शासन-विधान की रचना अमुक एक पद्धति से करने से ही इस प्रकार का सुधार नहीं होता; बल्कि जिनके जिम्मे अमल करने का काम आये, उनमें पुष्ट हुई धर्मबुद्धि से, और अपने मत को प्रभावशाली बनाने के लिए जनता में पुरुषार्थ करने की जो शक्ति होती है उससे होता है। शासन-विधान का बाहरी स्वरूप किसी भी प्रकार का क्यों न हो, यदि अधिकारी धर्मबुद्धिवाले लोकसेवक हुए और जनता पुरुषार्थी हुई, तो वहाँ राज्य की ओर से लम्बे समय तक अन्याय, अत्याचार आदि चल नहीं सकेंगे।

३. साम्प्रदायिक एकता

१. जब तक देश के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में एकता नहीं लाई जा सकती, तब तक स्वराज्य प्राप्त करना और उसे टिकाना असंभव है।

२. इस एकता को सिद्ध करने के लिए सभी जातियों के बीच खुले तौर पर रोटी-बेटी व्यवहार होना ही चाहिए, अथवा उनके विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के बीच के भेद मिट जाने चाहिए, और किसी एक ही धर्म की अथवा किसी भी धर्म का आधार न रखनेवाली संस्कृति का निर्माण होना चाहिए, यह न तो आवश्यक है और न इष्ट ही है। हरएक जाति को अपनी विशिष्टता की रक्षा करते हुए एकता लानी चाहिए।

३. लेकिन इस एकता की सिद्धि के लिए बड़ी जातियों को चाहिए कि वे छोटी जातियाँ को निर्भय कर दें। जहाँ न्याय और सार्वजनिक हित का विरोध नहीं है, वहाँ छोटी जातियाँ अपने धर्म, भाषा, साहित्य, जाति-नियम, रीति-रिवाज, शिक्षा, अर्थप्राप्ति के अवसर आदि के मामलों में निशंक रह सकेंगी, उन्हें कोई हानि नहीं उठानी पड़ेगी, इस प्रकार का बड़ी जातिवालों का रुख और टेक रहेगी-इस बात का विश्वास बड़ी जातियों को छोटी जातिवालों को करा देना होगा।

४. यदि हालत ऐसी हो कि बड़ी जाति को छोटी जाति से डर लगे, तो वह दों में से किसी एक बात की सूचक है: (१) या तो बड़ी जाति के जीवन में सड़ांध पैदा हुई है और वह कायर बन गई है और छोटी जाति में पशुबल का मद पैदा हुआ है; (यह पशुबल राज्यसत्ता के कारण से हो अथवा स्वतंत्र कारणों से हो;) अथवा (२) बड़ी जाति के द्वारा कोई अन्याय बराबर होता रहता है और छोटी जाति में निराशा से उत्पन्न होनेवाली मर-मिटने की वृत्ति पैदा हो गई है। दोनों का उपाय एक ही है; बड़ी जाति अपने जीवन में सत्याग्रह के सिद्धांत अपनाये। स्वयं सत्याग्रही बनकर अपने अन्याय को हर कीमत पर दूर करें और छोटी जाति के पशुबल को अपनी कायरता मिटाकर सत्याग्रह द्वारा जीते।

५. जाति-जाति के बीच भड़क उठनेवाले दंगों के अवसर पर सरकार की या कानून की मदद माँगना जनता को निर्वीर्य बनाना है। दोनों जातियाँ एक-दूसरी का खून वहा लें

और तृप्त होने पर शान्त हो जायें, किन्तु एक-दूसरी के विरुद्ध शिकायतें लेकर न दौड़ें, यह आदर्श स्थिति तो नहीं है; फिर भी विदेशी सरकार की अथवा किराये के लोगों की मदद से 'शान्ति' की रक्षा हो, उसकी तुलना में कम दुःख देनेवाली है।

६. जब तक छोटी जातियाँ के मन में बड़ी जातियाँ की नीयत के विषय में शंका हैं, तब तक बड़ी जाति छोटी जाति को गारंटी दे, यही उसे वश करने का अच्छे से अच्छा उपाय है। गारंटी देने का मतलब है जिन शर्तें को कबूल करने से वे निर्भय हो जायूँ, उन शर्तों को अधिक से अधिक जितना कबुल किया जा सके उतना किया जाय।

७. अलबत्ता, यह नियम वहीं लागू किया जायेगा जहाँ छोटी जाति ने बड़ी जाति की तुलना में कम प्रगति की होगी। जहाँ छोटी जाति ही अधिक समृद्ध और बलवान हो वहाँ वह बड़ी जाति से अधिक अथवा विशेष अधिकार पाने की माँग नहीं कर सकती।

८. छोटी जाति के पास अधिक अधिकार, धन, विद्या, अनुभव आदि का बल हो और इस कारण बड़ी जाति को उससे डर बना रहता हो, तो उसका धर्म है कि वह शुद्ध भाव से बड़ी जाति के हित में अपनी शक्तियों का उपयोग करे। जब सब प्रकार की शक्तियाँ दूसरों के कल्याण में काम आती हैं, तभी वे पोषण के योग्य मानी जाती हैं। यदि उनका दुरुपयोग हो, तो वे विनाश के योग्य बनेंगी और देर-सवेर नष्ट होकर रहेंगी।

९. सार्वजनिक संस्थाओं में नौकरों, अधिकारियों आदि की नियुक्ति में जातीयता के तत्त्व को स्थान देना उन-उन विभागों की कुशलता को नष्ट करना है। इसके लिए तो जात, बिरादरी, धर्म आदि किसीका विचार न करते हुए जो काम करना है, उसके लायक योग्यता ही नियुक्ति की कसौटी होनी चाहिए।

१०. जिस प्रकार ये सिद्धान्त हिन्दू, मुसलमान, सिख आदि बड़ी-छोटी जातियाँ को लागू होते हैं, उसी प्रकार अमीर-ग़रीब, जमींदार-किसान, मालिक-नौकर, ब्राह्मण-अब्राह्मण जैसे बड़े-छोटे वर्गों के बीच जिस सम्बन्ध को बनाये रखना है, उस पर भी लागू होते हैं।

४. ब्रिटिशों के साथ सम्बन्ध

१. ब्रिटिश राज्य के साथ हिन्दुस्तान का सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिए, इसे निश्चित करने का अधिकार हिन्दुस्तान की जनता को है। जब तक उसे यह अधिकार न रहे, तब तक यह नहीं कहा जा सकेगा कि स्वराज्य मिला है।

२. यदि ऐसे अधिकार के साथ ब्रिटिश साम्राज्य से हिन्दुस्तान का सम्बन्ध बना रहे, तो यह नहीं माना जायेगा कि उसके कारण पूर्ण स्वराज्य में कोई न्यूनता आई है। क्यों कि उस स्थिति में हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्य के साथ बराबरी के अधिकारवाला होगा, अर्थात् अपनी विशालता और महत्ता के प्रमाण में वह साम्राज्य के दूसरे अंगों को प्रभावित करता होगा।

३. यदि इस प्रकार हिन्दुस्तान और ब्रिटिश साम्राज्य के बीच सम्बन्ध स्थापित हो, और यदि इस सम्बन्ध के चलते हिन्दुस्तान की नीति सत्य और अहिंसा का पालन करने की रहे, तो ब्रिटिश साम्राज्य आज की तरह संसार के लिए भयप्रद न रहकर समस्त राष्ट्रों को निर्भय करनेवाला बन सके।

४. लेकिन इस स्थिति तक पहुँचने से पहले हिन्दुस्तान को लम्बा रास्ता तय करना है। उसे अपनी शक्ति और संस्कृति को पहचान कर, उसके प्रति वफादार रहकर, इस सम्बन्ध की अपनी साधना सिद्ध करनी चाहिए। जब तक वह निर्बलता और कायरता का आश्रय लेता रहेगा, तब तक यह असंभव होगा।

५. यह सच है कि ब्रिटिश साम्राज्य एक आसुरी तंत्र है और उसका नाश होना उचित है, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश जनता एक नहीं है। ब्रिटिश जनता संसार की अथवा यूरोप की दूसरी जनता की तुलना में अधिक दुष्ट अथवा कम गुणवान नहीं है। उस जनता में सम्मान करने और अनुकरण करने लायक अनेक गुण हैं। यदि आज के विषम सम्बन्धों के कारण हम उनकी कदर न कर सकें, तो वह दुर्भाग्य ही माना जायेगा।

६. स्वराज्य में हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज दूसरे अल्पसंख्यकों की तरह रह सकते हैं। वे हिन्दुस्तान की दूसरी जातियों की भांति हिन्दुस्तानी बनकर देश की सेवा में अपना योगदान कर सकते हैं और पिछले प्रकरण में दिये गये सिद्धांतों के अनुसार देश की दूसरी जातियाँ के साथ उनके सम्बन्ध दृढ़ हो सकते हैं। किन्तु यदि वे परदेशी बनकर ही रहना पसन्द करें, तो हिन्दुस्तान क लिए अनुकूल शर्तों पर ही वे हिन्दुस्तान की नौकरी कर सकते हैं।

५. देशी राज्य

१. आज देशी राज्य अपनी ताकत पर टिके हुए नहीं हैं। वे ब्रिटिश राज्य के बल पर निभ रहे हैं। उन्हें डर है कि ब्रिटिश राज्य न रहा, तो उनकी हस्ती भी न रहेगी। इस कारण ब्रिटिश राज्य को निबाहने में और उसके प्रति ब्रिटिश राज्य की प्रजा से भी अधिक वफादारी दिखाने में वे लगे रहते हैं।

२. लेकिन यह अधिक वफादारी अधिक गुलाम दशा की निशानी है। इसके मूल में शुद्ध भक्ति नहीं, बल्कि ग़लत तथा गन्दा स्वार्थ है।

३. इस कारण देशी राज्यों की जनता की स्थिति दोहरी गुलामी की है। जिस प्रकार दास-प्रथा में दासों का मुकादम मालिक से भी अधिक कठोरता दिखाता है, उसी प्रकार यदि देशी राजा अपनी प्रजा के प्रति अधिक कठोरता दिखाते हैं, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

४. इसका एक ही उपाय है कि पहले ब्रिटिश भारत स्वराज्य प्राप्त करे। जब तक ब्रिटिश भारत की जनता स्वतंत्र नहीं होती, तब तक उसमें देशी रियासतों की जनता के संकट दूर करने की शक्ति नहीं आ सकती। अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र होने के कारण ब्रिटिश भारत की जनता में जो शक्ति प्रकट होगी, उससे देशी रियासतों की आँख खुल जायेगी। उस समय देशी रियासतें देखेंगी कि ब्रिटिशों की बन्दूकों के बल पर अपनी जनता को दबाकर रखने और उस पर थोड़ी सत्ता चलाने अथवा मौज-शौक का जीवन बिताने की अपेक्षा निष्ठापूर्वक जनता की सेवा करके, उसके सुख-दुःख और ग़रीबी में सहभागी बनकर, प्रेम के सहारे जनता के हृदय पर अपनी प्रभुता जमाने में उनका अपना भी अधिक श्रेय है।

५. जिन देशी राजाओं की आँख इस तरह खुल जायेगी, वे खुद ही अपने राज्य में सुधार करने लगेंगे। और यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि जो इतने जड़ होंगे कि उस समय भी नहीं चेतेंगे, उनके राज्य टिक ही नहीं सकेंगे। लेकिन ऐसे जड़ राजा भी आज के

जैसी मनमानी तो हरगिज नहीं कर सकेंगे। क्यों कि स्वतंत्रता-प्राप्त ब्रिटिश भारत का और सुधरी हुई रियासतों का मिला-जुला लोकमत इतना बलवान बन चुका होगा कि दुष्ट को भी अपनी दुष्टता को संयत करना ही पड़ेगा।

६. पुरुषार्थी और स्वतंत्र जनता के जाग्रत लोकमत में कितनी बड़ी शक्ति है, इसे आज हम भूल बैठे है, यद्यपि सामाजिक व्यवहार में हम इसका अनुभव करते रहते हैं। पशुबल पर निभनेवाली सत्तायें तभी तक पशुबल का सहारा ले सकती हैं जब तक लोकमत का प्रवाह प्रचंड न बन जाय। इस प्रवाह के प्रचंड होने पर बड़ी से बड़ी सल्तनत को भी झुकना ही पड़ता है।

७. यह लोकमत कितना बलवान होता है, इसे दिखानेवाला और कभी पराजित न होनेवाला शस्त्र एक ही है, और वह है सत्याग्रह का। अपने मत के लिए मर-मिटने की तैयारीवाली जनता के सामने बड़े से बड़े मुकुटधारियों को भी झुकना ही पड़ता हैं।

६. देशकी रक्षा

१. यह धारणा भूलभरी है कि स्वराज्य में देश की रक्षा करने की शक्ति हिन्दुस्तान में नहीं होगी।

२. अहिंसा-धर्म को समझकर उसका भली-भांति पालन करनेवाली जनता को देश-रक्षा के साधनों की, जैसे, तोप, बन्दूक, फौजी जहाज आदि की, आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। लेकिन यह स्थिति आज तो काल्पनिक ही मानी जायेगी।

३. फिर भी स्वतंत्र किन्तु परराज्यों के साथ मेल-मिलाप से रहनेवाले और उनके निर्वाह के साधनों पर आक्रमण न करने को नीति का पालन करनेवाले हिन्दुस्तान को आज के जैसे और आज के जितने सैनिक साधनों की और सेना आदि की आवश्यकता तो रहेगी ही नहीं।

४. स्वराज्य में अमुक मर्यादाओं और बंधनों के साथ जनता के प्रत्येक योग्य व्यक्ति को हथियार रखने का परवाना रहेगा। दूसरों के आक्रमणों की आशंका से प्रभावित होकर ही देश का सारा कारोबार नहीं चलेगा। अतएव अनपेक्षित आक्रमण अथवा परिस्थिति के पहले हमले का मुकाबला करने लायक सेना और साधनों की तैयारी उसने रखी होगी, और बाद में आवश्यकता ही पड़ जाये, तो वह देश को तुरत-फुरत तैयार कर लेने की आशा रखेगा।

५. यदि हम जनता को इस प्रकार तैयार करने का प्रबन्ध करें और उसमें सफल हों कि जिस से देश का अधिकतर काम-काज कायदों की और अधिकारियों की राह देखे बिना लोग स्वयं ही सावधानी से करने लगें, तो उस स्थिति में देश में ऐसे स्वयंसेवकों के अनेक मंड़ल मौजूद होंगे, जिन के जीवन का मुख्य ध्येय ही जनता की सेवा और जनता के लिए अपना बलिदान करना है। ये लोग केवल लड़ना जाननेवाले ही नहीं होंगे, बल्कि जनता को शिक्षित करके उसकी व्यवस्था, व्यवहार और स्वास्थ्य तथा आरोग्य की रक्षा करनेवाले भी होंगे। जब देश पर आपत्ति आवेगी, तो पहला प्रहार ये सहेंगे।

६. यदि खुद जनता को ही देश की सेना से डरना पड़े और सैनिकों की बंदूकें जनता पर ही चलें—यदि यह स्थिति स्वराज्य में हो, तो वह स्वराज्य अथवा रामराज्य नहीं, बल्कि शैतान का राज्य होगा। सत्याग्रही का धर्म होगा कि वह उस राज्य का भी विरोध ही करें।

७. यदि देश का सिपाही जनता का मित्र, जनता की आपत्ति में उसके लिए प्राण न्यौछावर करनेवाला है, तो वह क्षत्रिय है। लेकिन यदि वह जनता को डरानेवाला और शरीर अथवा शस्त्र के बल से उसे पीड़ा पहुँचानेवाला बनता है, तो वह लुटेरा है। यदि राज्य की ओर से उसे आश्रय मिलता है, तो वह राज्य लुटेरों का है।

खण्ड छठा: वाणिज्य

पश्चिम का अर्थशास्त्र

१. पश्चिम का अर्थशास्त्र ग़लत दृष्टिकोणों पर आधारित होने से वह अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि अनर्थशास्त्र बन गया है।

२. ये ग़लत दृष्टिकोण नीचे लिखे अनुसार हैं:

(१) उसने भोगों की विविधता और विशेषता को संस्कृति का प्राण माना है।

(२) उसका दावा है कि उसने सब देशों और सब कालों में घटित होनेवाले अचल सिद्धान्त निकाले हैं; लेकिन असल में उसकी रचना यूरोप के छोटे, ठण्डे और खेती के लिए कम अनुकूलतावाले देशों में घनी बस्तीवाली, किन्तु मुट्ठीभर जनता की अथवा बहुत ही कम बस्तीवाले उपजाऊ और बड़े-बड़े भूखंडों की परिस्थिति के अनुभवों से ही हुई है।

(३) पुस्तकों में चाहे निषेध किया गया हो, पर प्रत्यक्ष योजना और व्यवहार में वह (क) व्यक्ति के, वर्ग के अथवा बहुत हुआ तो अपने ही छोटे देश के अर्थलाभ को प्रधानता देने की और उसके हित का पोषण करनेवाली नीति ही अर्थशास्त्र के अटल शास्त्रीय सिद्धांत हैं, यह मानने और मनवाने की तथा (ख) बहुमूल्य धातुओं को हद से अधिक प्रधानता देने की पुरानी परिपाटी में से मुक्त नहीं हुआ है।

(४) चूँकि उसने अपने विचार में अर्थ को नीतिधर्म से विच्छिन्न करके रखा है, इसलिए उसने-अपने लोगों में अर्थ से अधिक महत्त्व के जीवन-विषयों को गौणपद देने की आदत का पोषण किया है।

३. इसके परिणाम-स्वरूप:

(१) यह अर्थशास्त्र यंत्रों का, शहरों का तथा (खेती की अपेक्षा) उद्योगों का अंधपूजक बना है।

(२) इसने जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच और विभिन्न देशों के बीच समन्वय सिद्ध करने के बदले विरोध निर्मण किया है और सर्वोदय के स्थान पर कुछ लोगों को कुछ समय के लिए ही लाभ पहुँचाया है।

(३) यह पिछड़े हुए माने जानेवाले देशों में आर्थिक लूट चलाकर और वहाँ की जनता को व्यसनों में फँसाकर और उसका नैतिक अधःपतन करके समृद्धि का मार्ग खोज़ता है।

(४) इस अर्थशास्त्र को अपनानेवाले राष्ट्र पशुबल पर ही टिके हुए है।

(५) शास्त्रीय सिद्धांतों के नाम पर इसने जिन अंधविश्वासों का पोषण किया है, वे तथाकथित धार्मिक अथवा भूत-प्रेत आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अंधविश्वासों से कम प्रबल नहीं हैं।

२. भारतीय अर्थशास्त्र

१. और बातों को एक ओर रख दें, तो भी हिन्दुस्तान एक बहुत विशाल देश है। उसका जलवायु विविध प्रकार का है; उसकी जमीन, विविध प्रकार की होने के उपरान्त हजारों वर्षों के उपयोग से और साथ ही जनता की ग़रीबी के कारण उसका उपजाऊपन घट गया है; उसकी जनता कुल मानव-समाज के पाँचवें हिस्से के बराबर है और वह छोटे-छोटे गाँवों में बँटी हुई हैं; उसमें धर्म, संस्कृति, स्वभाव और रीति-रिवाज आदि की अनेक प्रकार की विविधताएँ हैं ये इतने स्थूल कारण भी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय अर्थशास्त्र का विचार पश्चिम की परिपाटी से मुक्त होकर करना चाहिए।

२. भारतीय अर्थशास्त्र की विशिष्ट बातें नीचे लिखे अनुसार गिनाई जा सकती हैं :

(१) उसका विचार गाँवों की दृष्टि से किया गया हो।

(२) उसमें खेती और उद्योग के बीच निकट का सम्बन्ध हो; साधारणत : दोनों एक ही छत के नीचे रह सकनेवाले हों।

(३) इस अर्थशास्त्र का विचार इस प्रकार किया गया हो कि जिससे विविध धर्मों, संस्कारों और स्वभाववाले लोगों तथा वर्गों के बीच हित-विरोध, कलह और अनुचित स्पर्धा का निर्माण न हो।

(४) इस कारण वह हर कदम पर नीतिधर्म को दृष्टि के सामने रखकर सर्वोदय सिद्ध करने का प्रयत्न करनेवाला हो।

३. ग्राम-दृष्टि

१. बार-बार यह कहा गया है कि हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है, लेकिन हिन्दुस्तान की सम्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली आजकल की अधिकांश योजनाएँ गाँवों के हित की दृष्टि से नहीं बनी हैं। उलटे शहरों और परदेशों के हित को ध्यान में रखकर ही बनाई गई हैं।

२. परिणाम यह हुआ है कि गाँवों का कच्चा माल शहरों में इकट्ठा होता है और शहरों के द्वारा विदेशों को जाता हैं और शहरों और विदेशों में बना पक्का माल गाँवों में पहुँचाने की व्यवस्था की जाती हैं। इसके कारण बहुत-सा कच्चा माल बेचने से मिला हुआ थोड़ा पैसा फिर थोड़ा पक्का माल खरीदने में खर्च हो जाता हैं और ग्रामवासी खाली का खाली ही बना रहता है।

३. साथ ही जीवन के अनेकानेक साधनों के बदले, जो गाँवों के खेतों और जंगलों में लगभग मुफ्त ही मिल सकते हैं और जिन्हें इकट्ठा करके लोगों तक पहुँचाने से ग़रीब वर्ग का गुजारा आसानी से हो सकता है, शहरों और विदेशों में बना मामूली-सी सुविधावाला, लेकिन अकसर अपने दिखनौटेपन के कारण ही आवश्यक और अच्छा लगनेवाला माल इस्तेमाल करने की फैशन के बढ़ जाने से गाँवों के बहुत से उद्योग और मजदूरी के धंधे नष्ट हो चुके हैं और होते जाते हैं।

४. इस प्रकार का बहुतसा आकर्षक माल तो आरोग्य और स्वच्छता की दृष्टि से हानिकारक और गंदा भी होता है, और खर्चीला तो होता ही है; इसके कारण जनता व्यर्थ की और खर्चीली आदतों की शिकार भी बनती हैं। उदाहरण के लिए, दतौन के बदले तरह-तरह के दंतमंजन, पेस्ट, टूथब्रश; गुड़ और खांड़ के बदले मिल की सफेद दानेदार शक्कर; रस्सी या निवार से भरी लकड़ी की खटिया के बदले लोहे के नलों अथवा सलाखोंवाले पलंग; कवेलुओं या खपरैलों के बदले टिन की चादरें; नारियल, सन आदि की रस्सी के बदले तार तथा तार की रस्सियाँ; देहाती चटाइयों के बदले चीन और जापान की चटाइयाँ; गाँवों में बननेवाले बाँस या घास के सूपों, टोकनों आदि के बदले टिन के सूप, तगारियाँ, डिब्बे वगैरा; गाँव के लुहारों या कसेरों द्वारा बनाई जानेवाली सांकलों, कड़ियों,

मिजागरों, हत्थों आदि के बदले यंत्र से बनी तार की अथवा टिन की ऐसी ही कम टिकाऊ लेकिन आकर्षक चीजें; गाँवों के सुनारों द्वारा बनाये गये गहनों के बदले शहरों में यंत्रों की मदद से ढाले गये गहने; गाँवों की स्त्रियों द्वारा गूंथे गये पंखों, बनाये गये आसनों, जाजमों, दुशालों आदि के बदले जापानी कागज के पंखे, मिलों में यांत्रिक रीति से बनाये गये बेलबूटोंवाले आसन, दुशाले वगैरा; रीठे, सीकाकाई आदि प्राकृतिक वस्तुओं के बदले सुगंधित साबुन; नरकट के बदले भांति-भांति की फाउण्टेन पेन और होल्डर पेन; इसके परिणाम-स्वरूप देहाती स्याही के बदले रासायनिक स्याहियाँ, देहाती कागजों के बदले कारखाने में बने कागज; घर में बने ताजे काढ़ों और पाकों के बदले तैयार दवाओं की बोतलें, मसाले आदि-आदि।

५. ये सब चीजें गाँवों की चीजों से अधिक सस्ती पड़ती हों, सो बात भी नहीं। लेकिन चीजों की मोहकता के कारण और धनवान किन्तु अविचारी लोगों द्वारा चलाई गई फैशन का अंधे बनकर अनुकरण करने में जो एक सभ्यता मान ली गई है उसके कारण और जनता में जड़ जमाकर बैठे हुए आलस्य एवं मूढ भाव के कारण आर्थिक दृष्टि से न पुसाने पर भी ये चीजें खरीदी जाती हैं।

६. इसके अलावा, अविचारी यंत्रवाद ने भी गाँवों को गरीब बनाने में बहुत हाथ बँटाया है: जैसे, कपास ओटने, आटा पीसने, चावल खांडने और तेल पेरने के कारखाने, मोटर ट्रक, मोटर बस आदि-आदि।

७. इसके सिवा, बीच के व्यापारियों की छोटी और तत्काल अधिक लाभ उठाने की स्वार्थपूर्ण दृष्टिने भी गाँवों के बहुत से माल को, विदेशों के या कारखानों के माल की तुलना में लागत में महँगा न होने पर भी खरीदारों के लिए महँगा बना दिया है। परिणाम यह हुआ है कि जो बाजार आसानी से गाँवों के हाथ में रह सकता है, वह भी कारखानेवालों के और विदेशियों के हाथ में चला गया है।

८. जब अर्थशास्त्र में और जीवन में गाँवों की दृष्टि प्रवेश करेगी, तब जनता का मन गाँवों में बनी वस्तुओं का अधिक से अधिक उपयोग करने की ओर मुडेगा; तभी जनता

अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ गाँवों में तैयार कराने के रुझानवाली बनेगी। इसके परिणाम-स्वरूप गाँवों की कला और वहाँ के औजारों को सुधारने की, देहाती जनता को संस्कारी बनाने की, गाँवों के जंगलों और खेतों में पैदा होनेवाली उपज के बारे में और उपयोग करने के ज्ञान के अभाव में गाँवों में जिस सम्पत्ति का और प्राकृतिक साधनों का आज कोई उपयोग नहीं हो रहा है, उनके सम्बन्ध में खोज़ और आविष्कार करने की प्रवृत्ति जनता में जागेगी।

९. आज सम्पत्ति गाँवों से शहरों में पहुँचकर आखिर विदेशों में चली जाती है। इस प्रवाह को बदल देने की ज़रूरत है। ऐसा करने से गाँवों की सम्पत्ति गाँवों में ही रहेगी और गाँव न केवल स्वावलम्बी बनेंगे, बल्कि शहरवालों के लिए आवश्यक बहुत-सा माल भी गाँववाले तैयार कर सकेंगे।

४. धन की इच्छा

१. चाहे आम तौर पर यह कह दिया जाय कि अधिकांश मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति में और सुख-सुविधाओं में कुछ सुधार और बढ़ोतरी करना चाहते हैं; लेकिन मनुष्यों की धन अथवा सुख की इच्छा की कोई मर्यादा ही नहीं होती और सभी लोग लखपति, जमींदार अथवा राजा बनने या कोठियों और बंगलों में रहने को तरसते हैं—यह कहना और जँचाना एक ऐसी बात है, जो आम लोगों को न समझनेवाली, उन के लिए हलकी राय रखनेवाली और उनके सामने हलका आदर्श उपस्थित करनेवाली है।

२. अधिकांश जनता न तो धन को ठुकराती है और न उसके लिए अपार तृष्णा ही रखती है। हाँ, वर्ष के अंत में दो पैसे जुड़े हैं, यह देखने की इच्छा लोग ज़रूर रखते हैं। लेकिन यह सब इतनी मर्यादा में होता है कि जिस से प्रसंगानुसार बीमारी, मृत्यु, ब्याह-शादी अथवा बुढ़ापे के खर्च का प्रबन्ध हो सके या पर्व-त्यौहार, यात्रा, दान-धर्म आदि की व्यवस्था की जा सके। धार्मिक संस्कारोंवाली जनता में धन और सुख की तृष्णा को अमर्यादित न बनानेवाला संस्कार न्यूनाधिक काम करता ही रहता है।

३. जिस तरह सभी लोग राजा सिकन्दर अथवा नेपोलियन बनने का अथवा भर्तृहरि या गोपीचन्द बनने का हौसला नहीं रखते और न वैसा पुरुषार्थ करने की शक्ति ही उनमें होती है, उसी तरह करोड़ों लोग न तो धनवान बनने का और न ही निष्किंचन बनने का हौसला या हिम्मत रखते हैं।

४. लेकिन हरएक राष्ट्र में कुछ लोगों की महत्त्वाकांक्षा और पुरुषार्थ करने की शक्ति असाधारण होती है। ऐसे कुछ लोग निष्किंचन बनने का आदर्श रखते हैं, तो कुछ यह दिखाने का आदर्श रखते हैं कि लाखों रुपये कमाये जा सकते हैं।

५. समाज की व्यवस्था या रचना ऐसी होनी चाहिए कि जनता की आवश्यक सुरव-सुविधायें और धन-प्राप्ति की इच्छाओं को हानि पहुँचाये बिना ऐसे लोगों को पुरुषार्थ करने

के उचित अवसर मिलें; यही नहीं, बल्कि इसके परिणाम-स्वरूप उनकी महत्त्वाकांक्षा के पोषण के साथ ही आखिर उससे समाज को लाभ ही हो।

६. यदि समाज-व्यवस्था में ऐसे पुरुषार्थ के लिए योग्य अवसर न रहा, तो उनकी महत्त्वाकांक्षा उन्हें पुरुषार्थ के गलत रास्ते ले जायेगी और समाज को नुकसान पहुँचायेगी।

७. उद्योग-धंधों और समाज-सेवा के कई कामों में अनेक प्रकार के साहसों और संकटों का सामना करना पड़ता है। उन कामों की सिद्धि शंकास्पद होती है और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रयोगों के लिए सार्वजनिक समितियों की तुलना में व्यक्तिगत मनुष्य और व्यक्तिगत संस्थाएँ अधिक अनुकूल सिद्ध होती हैं। समाज-रचना इसके लिए अनुकूल होनी चाहिए।

५. व्यापार

१. व्यापार का योग्य क्षेत्र आवश्यक बड़े उद्योगों का विकास करना और जनता तक उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ पहुँचाना है; इसमें से अनायास जो बचत रहे, उसे मुनाफा कहा जा सकता है।

२. अनायास बचत का अर्थ है उद्योग अथवा धंधे के सिलसिले में जो भी खर्च आवे, उसे माल पर चढ़ाते समय नुकसान की संभावना दूर करने के लिए जो थोड़ी छूट (मार्जिन) रखी हो उसकी बचत। फुटकर रूप में इस प्रकार की बचत बहुत नगण्य होती है, फिर भी उद्योग की विशालता के कारण हो सकता है कि कुल मिलाकर रकम काफी बड़ी हो जाय।

३. इस तरह जो धन बचे, उसका उपयोग उस उद्योग में काम करनेवाले मजदूरों के कल्याण के लिए अथवा उस उद्योग के या दूसरे उपयोगी उद्योगों के विकास के लिए अथवा सार्वजनिक हित के बड़े काम उठाने के लिए करना उचित है।

४. यदि ऐसे धन का मालिक अपने को उसका संरक्षक समझे और तदनुसार उसका उपयोग करना अपना धर्म माने, तो व्यक्तिगत रूप से पूंजीपति माना जाने पर भी वह जनता का कल्याण करेगा और ईर्षा का पात्र नहीं बनेगा।

५. किन्तु यदि वह उससे केवल स्वार्थ ही साधे और धन या निजी उपभोग के साधनों को ही बढ़ाते रहने की दृष्टि रखे, तो वह अपने को तिरस्कार-पात्र बना लेगा, और फलत : मालिक-नौकर के बीच भेदभाव बढ़ानेवाला और कलह उत्पन्न करानेवाला बनेगा।

६. यदि मालिक ऐसा व्यवहार रखे कि उसके माने जानेवाले बंगले, कोठियाँ, गहने, गाड़ी-घोड़े, साज-सामान, बर्तन-भांडे, जाजम आदि उसके अधीन रहनेवाले लोंगों को उनके पारिवारिक कार्यों के अवसर पर उपयोग के लिए मिल सकें और यदि मालिक उनके परिवारों में होनेवाले शभाशुभ कार्यों को इस तरह पूरा कराना अपना कुलधर्म समझे कि जिस से उनका मन प्रफुल्लित हो जाय और इसके साथ ही यदि गरीबों के जीवन में

परेशानियाँ न रह जायँ, तो मालिक के बढ़े-चढ़े भोग के लिए गरीबों के मन में ईर्षा का भाव पैदा ही न हो। उलटे वे तो अधिकतर उपभोग के इन साधनों की सार-संभाल के जंजाल से मुक्त रहने की ही इच्छा करेंगे।

७. जहाँ मालिक का व्यवहार इस प्रकार का होता है, वहाँ वह अपने धन का उपयोग संरक्षक के रूप में करता है, ऐसा बड़ी हद तक कहा जा सकता है। इसमें धन के लोभ का सर्वथा अभाव तो नहीं है, पर वह धन का ऐसा संग्रह है, जिस से जनता का द्रोह नहीं होता और जो आवश्यकता पड़ने पर उनके काम आ सकता है।

८. साम्यवाद की किसी दलील से प्रभावित होकर जनता इस प्रकार की विवेकपूर्ण पूंजीवादी प्रथा का नाश करने के लिए तैयार नहीं होगी।

९. इसके अलावा, जब मालिक स्वयं सादा और संयमी जीवन बितानेवाला होता है, तो धनवान होते हुए भी वह जनता के लिए पूज्य बन जाता है।

६. सराफी

१. कम ब्याज से पैसे लेकर उन्हें अधिक ब्याज कमाने में लगाने के धंधे को साहूकारी अथवा सराफी कहा जाता है; लेकिन समाज के हित के लिए जो सराफी अनिवार्य है, वह इस प्रकार की नहीं होती।

२. आज दुनिया में जिस प्रकार की साहूकारी चल रही है, वह या तो विदेशी व्यापारियों की दलाली का अथवा आढ़त का धंधा है अथवा किसानों की और दूसरे उद्योग-धंधों में लगे हुए लोगों की जमीनों और धन-सम्पत्ति को या इससे भी आगे बढ़े तो दूसरों के राज्यों को धीमे-धीमे हजम कर लेने की अप्रामाणिक युक्ति है। यूरोप, अमेरिका जैसे देशों में अधिक ब्याज के लोभ से अपने देश के ग़रीबों के हितों की उपेक्षा करके विदेशों में पैसा लगाने की वृत्ति पैदा की गई है। इसके कारण धनी देशों में भी परेशानियाँ बनी रहती है।

३. यह मान्यता ही भयंकर अधर्म है कि धंधे में झूठ बोलने में कोई दोष नहीं।

४. अपढ़, भोले और विश्वासी लोगों को, अथवा विलास में डूबे हुए अमीरों या राजाओं को ग़लत खर्चों और व्यसनों में फँसने के लिए ललचाकर उन्हें कर्जदार बनाना, लेन-देन के व्यवहार में उन्हें ठगना, झूठे हिसाब रखना और झूठे दस्तावेज बनाना—सराफी नहीं, बल्कि घोर पाप और हिंसा है।

५. इस प्रकार के अधर्मयुक्त साहूकारी के धंधे के कारण अर्थ की नहीं, बल्कि अनर्थ की वृद्धि हुई है।

६. मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बचत पूंजी किसी उद्योगधंधे की मदद में ही लगाये। पहले वह स्वदेश में ही लगनी चाहिए। उद्योगों में लगाने के बाद भी पूंजी बचे, तो स्वदेश में सार्वजनिक हित के कार्यों का विस्तार करने में उसका पहला उपयोग होना चाहिए। यह विचार हमेशा सही नहीं होता कि पूंजी को सुरक्षित रखकर उसके ब्याज से ही लोकहित के काम किये जाने चाहिए। इस विचार के कारण पूंजी का अधिक-से-अधिक उपयोग करने के बदले अधिक-से-अधिक ब्याज कमाने की वृत्ति पैदा हुई है।

७. ब्याज पर पैसे लेकर कौटुम्बिक कार्य निपटाने की मनाही होनी चाहिए। सामाजिक रीति-रिवाज इस प्रकार बदले जाने चाहिए कि जिस से ऐसे कार्य कम-से-कम खर्च में हो सकें। इसके बावजूद, बीमारी में और ऐसी दूसरी आपत्तियों में अथवा ब्याह-शादी के मौकों पर नकद रुपयों की कुछ कमी पड़ जाय, तो उसके लिए आवश्यक मदद समाज की ओर से मित्र के नाते बिना ब्याज के मिलनी चाहिए। दुकानदार द्वारा घरेलू उपयोग के लिए दिये जानेवाले उधार माल पर और ऊपर बताये गये पारिवारिक कार्यों के अवसर पर जो मदद की जाय, उसके कारण होनेवाले कर्ज पर ब्याज लेना गैरकानूनी माना जाना चाहिए।

८. आजकल तो इस प्रकार के कर्ज पर ज्यादा ब्याज मिल सकता है, इसलिए साहूकारों के सामने यह प्रलोभन रहता है कि वे अपने आसामियों को व्यसनों में और खोटे खर्चों में फँसाते रहें।

९. दूसरी तरफ से मुद्दत के और दिवालियेपन के कानूनों ने लोगों की नैतिक भावनाओं को नष्ट करने में बहुत हाथ बंटाया है। इन कानूनों के कारण दिवालियापन की, सटोरियापन की और वापस लौटाने की नीयत न रखते हुए कर्ज लेते ही रहने की वृत्ति का और ऐसे ही अन्य तरीकों का पोषाण हुआ है।

१०. इस प्रकार आसामी और साहूकार का सम्बन्ध चूहे और बिल्ली के जैसा अथवा एक-दूसरे को ठगने की कोशिश में लगे हुए शत्रुओं के जैसा बन गया है। अब यह सम्बन्ध ऐसा नहीं रह गया कि जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहे, जिस से एक-दूसरे का हित सिद्ध हो, और जिसके कारण साहूकार आसामी के उद्योग-धंधों को बढ़ाने के काम में मदद करने की इच्छा रखे और आसामी अपने बाप-दादों के वाजिब कर्ज को चुकाने में अपनी कुलीनता समझे।

११. जो हालत आसामी और साहूकार की हुई है, वही नौकर और मालिक की भी हो गई है।

७. पूरा मेहनताना

१. मनुष्य किसी भी प्रकार का श्रम क्यों न करे, यदि वह उसे दिये गये साधनों का और प्रशिक्षण का उचित और प्रामाणिक उपयोग दिन में पूरे समय करें, तो उसे अपने श्रम के बदले में इतनी मजदूरी मिलनी या हो ही जानी चाहिए कि जिस से वह अपना और अपने अशक्त आश्रितों का निर्वाह सन्तोषजनक रीति से कर सकें।

२. गाँवों के आज के साधनों और वहाँ की रहन-सहन आदि को ध्यान में रखकर और गाँवों के जीवन-स्तर को जितना ऊँचा ले जाना आवश्यक ही है, उसका विचार करके और चीजों की वर्तमान कीमतों को ध्यान में रखकर एक दिन की मजदूरी के लिए आठ घंटों का समय पूरा समय माना जाना चाहिए, और फी घंटा एक आना मजदूरी की दर ज़रूरी मानी जानी चाहिए।[१]

३. इस स्थिति तक एकदम पहुँचने के लिए कदम बढ़ाने की हिम्मत चाहे हम में न हो, पर इस दिशा को ध्यान में रखकर हमें सतत प्रयत्न करना चाहिए।

४. आदर्श स्थिति और वर्णधर्म की सम्पूर्णता तो इस बात में है कि सब प्रकार के धंधों में लगे लोगों की कमाई बराबर हो। किन्तु आज यह चीज निकट भविष्य में होती दीखती नहीं। इसलिए इस आदर्श को ध्यान में रखकर जहाँ तक पहुँचा जा सके, वहाँ तक उत्तरोत्तर पहुँचते रहने की नीति अपनाई गई है।

---

१. यह आंकड़ा जब यह पुस्तक लिखी गई थी तबकी परिस्थिति में सोचा गया था | आज इसमें बड़ा फर्क हो गया है।–प्र॰

८. मजदूरों के प्रश्न

१. जीवन-सम्बन्धी गलत दृष्टिबिन्दुओं के कारण मजदूरों का प्रश्न उलझन में पड़ गया है।

२. ये ग़लत दृष्टिबिन्दु नीचे लिखे हैं:

(क) मनुष्य फुरसत ही चाहता है और काम को बेगार ही समझता है;

(ख) मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए अवकाश ही आवश्यक है; शारीरिक श्रम उसका विरोधी है;

(ग) कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक सुख पाना श्रम-विभाजन का ध्येय है;

(घ) मालिक और मजदूर के स्वार्थ एक-दूसरे के विपरीत हैं।

३. इन कारणों से मजदूरों में नीचे लिखे मिथ्या आदर्शों का पोषण करने का प्रयत्न होता है:

(क) अतिशय यांत्रिक सुधार करके दो या चार घंटों के श्रम से जीवन की आवश्यकताएँ खड़ी करना;

(ख) पूंजीपति का नाश करना।

४. हो सकता है कि ऊपर के ये आदर्श कभी सिद्ध हो जायें, पर इसका कोई भरोसा नहीं कि उससे मानव-जाति सुखी होगी ही।

५. असल में मजदूरों अथवा यों कहिये कि करोड़ों लोगों के सुख के लिए नीचे लिखी दृष्टि से विचार करना चाहिए:

(क) मनुष्य को बाह्य साधनों पर इतना अधिक निर्भर नहीं कर देना चाहिए कि जिस से श्रम करने की उसकी स्वाभाविक शक्ति का ह्रास हो जाय और वह श्रम के सहारे निर्वाह करने लायक न रह जाय।

(ख) अतएव मनुष्य की शारीरिक श्रम करने की शक्ति बढ़नी चाहिए और मजदूरी के घटों, मजदूर के खान-पान और घर-बार आदि की उसकी सुविधाओं का विचार उसकी शक्ति टिकाने और बढ़ाने की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

(ग) श्रम का बहुत ही सूक्ष्म विभाजन करके मजदूर को जड़ यंत्र की तरह बना देना और दो-चार घंटों की नीरस यांत्रिक क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध जोड़कर बाद में उसे मौज-शौक के कामों के लिए खुला छोड़ देना मनुष्य-जाति के लिए कल्याणकारी नहीं होगा; असल में तो उद्योग-धंधों की रचना के ऐसे तरीके खोज़े जाने चाहिए, जिन से मजदूर को अपने कर्तव्य कर्म में ही आनन्द का अनुभव हो, वही उसकी रुचि का विषय बने और उसी से वह अपना आध्यात्मिक विकास कर सके।

(घ) इसका यह मतलब नहीं कि मनुष्य के लिए उद्योग की प्रवृत्ति के अलावा दूसरी प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं है और उसके लिए फुरसत ज़रूरी नहीं है। हरएक मनुष्य के लिए निर्दोष शौक की एक और प्रवृत्ति इष्ट है और उसके लिए उसे फुरसत भी मिलनी चाहिए; किन्तु ऐसी प्रवृत्ति गौण ही रहनी चाहिए। मानव-समाज का बड़ा भाग अपनी फुरसत के समय का यथोचित उपयोग कर सके, इस प्रकार की संस्कारिता अभी फैली नहीं है। आज तो आशंका इस बात की है कि अधिकतर लोग अपने अतिरिक्त अवकाश का उपयोग नींद, व्यसन और दोषमय भोगों में करेंगे।

(च) अपने निर्वाह के लिए मनुष्य को कठिन श्रम करना पड़ता है, इसे प्रकृति का कोप नहीं, बल्कि अनुग्रह समझना चाहिए। ऐसा श्रम करने की शक्ति बढ़ाने का ध्येय होना चाहिए, इसके विपरीत नहीं।

(छ) मालिक मजदूरों का व्यवस्थापक बनकर उन्हें उनकी शक्ति के अनुसार ही काम दे और पर्याप्त मेहनताने की तथा सुख-सुविधा की योजना कर दे, और

मजदूर मालिक के धंधे को अपना समझ कर उसके लिए मन से मेहनत करें, इसी से दोनों के हित का विस्तार होगा।

(ज) इसके लिए खानगी पूंजी हो या न हो, यह प्रश्न बहुत महत्त्व का नहीं है। पर उद्योग और वाणिज्य का ध्येय बदलने की आवश्यकता है।

(झ) उद्योग का ध्येय व्यापार बढ़ाने के लिए नई-नई आवश्यकताएँ खड़ी करना नहीं है, बल्कि पड़ी हुई आदतों और उत्पन्न हो चुकी आवश्यकताओं की अच्छे-से-अच्छे ढंग से पूर्ति करना ही है। व्यापार का भी यही प्रयोजन है। ऐसा करते हुए भी कुछ नई आवश्यकताएँ ज़रूर खड़ी हो सकती हैं। किन्तु यदि यह ध्येय ध्यान में रखा जाय, तो पिछड़े माने जानेवाले राष्ट्रों की ज़रूरतों को बढ़ाने के लोभ में वाणिज्य नहीं फँसेगा और उन्हें चूसने की नीति नहीं अपनायेगा। ऐसा होने पर मजदूर और मालिक अन्योन्याश्रयी बनकर रहेंगे।

(ट) यदि ऐसा ध्येय नहीं रहा, तो पूंजी पति के रूप में व्यक्ति के बदले जड़ तंत्र मालिक बनेगा अथवा एक राष्ट्र मालिक और दूसरा मजदूर बनेगा। इससे मनुष्य का सुख बढ़ नहीं सकेगा।

९. स्वावलम्बन और श्रम-विभाजन

१. स्वावलम्बन का अर्थ श्रम-विभाजन का विरोध नहीं है, इसी प्रकार उसका अर्थ दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध का अभाव भी नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि समाज में रहनेवाले लोग सम्पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बन सकें, अर्थात् अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति अपनी निज की मेहनत से कर सकें। ऐसा प्रयत्न मिथ्या अहंकार का और निष्फल प्रयत्न का स्वरूप ले सकता है। जो समूचे संसार के साथ प्रेम और अहिंसा द्वारा एकरूप बनने का आदर्श रखता है, वह आत्म-निर्भर बनने का मिथ्या मोह नहीं रखेगा।

२. फिर भी मनुष्य अपनी, जितनी आवश्यकताओं को और जितने कामों को अपने-आप सहज भाव से पूरा कर सकता है या उन्हें स्वयं निबटा सकता है और इसके लिए उसे प्राकृतिक अनुकूलताएँ भी सुलभ हो सकती हैं, उनमें उसका स्वावलम्बी बनना दोषरूप नहीं, बल्कि उचित ही है। ऐसा कोई धर्म नहीं कि इसके लिए उसे दूसरों से मेहनत करानी ही चाहिए और उस निमित्त से आर्थिक लेन-देन के सम्बन्ध स्थिर करने ही चाहिए। उदाहरण के लिए, यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य को अपने कपड़े धोबी से ही धुलवाने चाहिए, पाखाना भंगी से ही साफ कराना चाहिए, हजामत के लिए नाई को बुलाना ही चाहिए अथवा भोजन होटल में जाकर ही करना चाहिए ये सब कर्तव्यरूप नहीं हो सकते।

३. यही नियम देश अथवा राष्ट्र के व्यवहारों पर भी लागू होता है। हिन्दुस्तान जैसा देश, जहाँ पर्याप्त अनाज और रुई पैदा होती है, यदि अन्न और वस्त्र के विषय में स्वावलम्बी बनता है, तो उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्वयंपूर्ण बनने का अभिमान रखता है अथवा दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध रखना नहीं चाहता।

४. इसी तरह जिन-जिन उद्योगों के विकास के लिए हिन्दुस्तान में प्राकृतिक अनुकूलताएँ हैं, उन उद्योगों के विकास की योजना करने में कोई दोष नहीं। इस प्रकार की आर्थिक नीति को अपनाये बिना जनता को सुखी करने की आशा रखना व्यर्थ है।

५. हिन्दुस्तान का अनाज विदेशों में भेजकर वहाँ से रोटी मँगाना और खाना, तिल्ली या मूंगफली बाहर भेजकर वहाँ से पेरा हुआ तेल मँगाना, रुई भेजकर कपड़े मँगाना और इस पद्धति को अन्तर्राष्ट्रीय श्रमविभाजन का अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का नाम देना अथवा यह कहना कि लंकाशायर-जैसे प्रदेश में लोहे और कोयले की खानें हैं और वहाँ नमीवाली हवा है, अतएव कपड़ा पैदा करने की प्राकृतिक अनुकूलता वहीं है, श्रम-विभाजन और सहयोग के तत्व का दुरुपयोग करना है।

१०. राजनीतिक स्वदेशी

१. देशकी आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि जहाँ कच्चा माल पैदा होता है, वहीं उससे सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग भी चलें। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से इसीको 'स्वदेशी आन्दोलन' कहा जाता है।

२. कच्चे माल के विदेशों में जाने और वहाँ से पक्के माल के रूप में स्वदेश वापस आने की पद्धति आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद मालूम होती हो, तो बहुत संभव है कि उसके मूल में स्वदेश में अथवा विदेश में कहीं कोई अन्याय अथवा अधर्म रहा हो अथवा हिसाब में कोई भूल हो।

३. इंग्लैण्ड जिसे 'फ्री ट्रेड' अथवा मुक्त व्यापार कहता है, वह असल में वैसा व्यापार है नहीं। क्यों कि वह अपने उद्योगों को टिकाने के लिए और दूसरे देशों के उद्योगों का नाश करने के लिए चुंगी का ही नहीं, बल्कि सैनिक शक्ति का, राजनीतिक सत्ता का एवं कुटिल नीति का उपयोग करता है। स्वदेशीकी नीति का यह अधम और अन्यायी स्वरूप है।

४. आर्थिक दृष्टि से स्वदेशी और बहिष्कार के बीच कोई भेद नहीं। जिस पर करोड़ों का जीवन निर्भर करता हो, वह चीज विदेश से कदापि नहीं लाने दी जा सकती। मतलब यह कि उसका बहिष्कार होगा। यह बहिष्कार किसी एक देश के विरोध में नहीं, बल्कि सब विदेशों के विरोध में होगा। इसलिए वह स्वदेशी ही है।

५. किसी देश के विरुद्ध किया जानेवाला बहिष्कार राजनीतिक दृष्टि से किया जाता है, इसलिए इस प्रकरण में उसका विचार करना आवश्यक नहीं।

११. यांत्रिक साधन

१. भारतीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से यांत्रिक साधनों और उनमें किये जानेवाले सुधारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) वे यंत्र अथवा उनमें हुए सुधार, जिन से श्रम करनेवाले मनुष्यों अथवा पशुओं के स्नायुओं को कुछ कम मेहनत पड़े और उनका थोड़ा समय बचे; उदाहरण के लिए गिर्री, चक्की, चरखा, सायकल, सीनेकी मशीन, झटका करघा, गाड़ी आदि; और इनमें घर्षण आदि के दोष कम करने के लिए किये जानेवाले सुधार; जैसे, बॉल बेरिंगवाली धुरियाँ, पक्के रास्ते, रेल की पटरियाँ आदि; और (२) ऐसे यंत्र जो श्रम करनेवाले मनुष्य अथवा पशु का स्थान लेते हैं अर्थात् मजदूरों या पशुओं की संख्या घटाते हैं, अथवा मजदूर के बुद्धि-चातुर्य या शरीर-बल का उपयोग करने के बदले केवल एक जीवित यंत्र की तरह उसका उपयोग करते हैं; जैसे, आटा पीसने की चक्की, चावल की मिल, तेल पेरने और शक्कर बनाने के कारखाने, सूत और कपड़े की मिलें, मोटर, रेल आदि माल ढोने के वाहन, ट्रैक्टर, भाप अथवा बिजली से चलनेवाले पानी के पम्प, सूक्ष्म श्रम-विभाजन के परिणाम-स्वरूप बने यंत्र, आदि-आदि।

२. पहले प्रकार के यांत्रिक साधन और उनमें होनेवाले सुधार साधारणत: इष्ट हैं। हो सकता है कि इनके परिणाम-स्वरूप भी मजदूरों या पशुओं की संख्या घटे, लेकिन वह कम-से-कम होगी।

३. दूसरे प्रकार के यांत्रिक साधनों और सुधारों का उपयोग करने में विवेक और सावधानी से काम लेना होगा। तात्पर्य यह कि ऐसे साधनों और सुधारों का कौन किस हद तक उपयोग करे, इस पर जनता की सरकार का अंकुश होना चाहिए जैसा हथियार और गोला-बारूद बनाने और बरतने पर होता है।

४. दूसरे प्रकार के यंत्रों का उपयोग किस परिस्थिति में दोषरूप नहीं माना जायेगा, इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये गये हैं:

(क) जहाँ काम बहुत हो और उसे करनेवाले लोग कम हों, और अधिक करनेवालों को पाना अथवा रखना संभव न हो जैसे, अगिनबोट पर;

(ख) जहाँ आकस्मिक अड़चन के कारण अथवा अन्य कारणों से काम का प्रकार ही ऐसा हो कि उसे फुरती से पूरा करना आवश्यक ही और यांत्रिक साधनों के स्थान पर अधिक लोगों को इकट्ठा करने से अव्यवस्था, ढिलाई और जोखिम बढ़ने की संभावन हो; जैसे, आग बुझाना, अकाल अथवा ऐसे अन्य प्राकृतिक कोप से लोगों को बचाना अथवा अनाज आदि की मदद पहुँचाना;

(ग) जो यंत्र और उनमें हुए सुधार सहयोगी धंधा देनेवाले हों अथवा सहयोगी धंधे को अधिक अच्छी स्थिति में लानेवाले हों और फिर भी सहयोगीपन को नष्ट न करते हों; जैसे, अधिक काम देनेवाला चरखा, रस्सी बुनने का चक्र इत्यादि;

(घ) पहले प्रकार के यंत्र बनाने के लिए यंत्र, औजार आदि तैयार करना, खासकर जहाँ एक ही माप और पद्धति के यंत्र अथवा पुर्जे बनाने का महत्त्व हो;

(च) जहाँ अत्यन्त चौकस काम देनेवाले नाजुक साधनों की आवश्यकता हो; जैसे, घड़ी, टाइप राइटर, प्रयोगशाला के साधनों आदि की बनावट;

(छ) जिन उद्योगों में अधिकतर जनता कभी लग ही नहीं सकती, किन्तु जिनकी खपत सार्वजनिक हो, ऐसे पदार्थों को बनाने में; उदाहरण के लिए, नल के पाइप, टोटियाँ, काँच के घरेलू बर्तन आदि;

(ज) निजी उद्योगों में नहीं, बल्कि राज्य की ओर से अथवा उसकी निगरानी में चलाये जानेवाले उद्योगों में; जैसे, रेलगाड़ी, जहाज, महत्त्वपूर्ण खानों, मिट्टी के तेल के कुओं आदि में।

५. जिस हद तक दूसरे प्रकार के यांत्रिक साधनोंवाले उद्योग आवश्यक माने जायँ, उस हद तक उनसे सम्बन्ध रखनेवाले कारखाने भी आवश्यक होंगे; जैसे, लोहा, औजार, मशीन, काँच, बिजली आदि के और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन तैयार करने के कारखाने।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

१. जो चीजें अपने देश में न बनती हों, जिन्हें बनाने के लिए प्राकृतिक अनुकूलता भी न हो, अथवा जो भारी हिंसा करके ही उत्पन्न की जा सकती हों, जिन्हें बनाने की कला उन राष्ट्रों ने अतिशय परिश्रम के साथ सिद्ध की हो और उसकी कमाई पर उनका जीवन पूरी तरह निर्भर हो, जिनका जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण उपयोग न हो कि उनके बिना करोड़ों लोगों का जीवन रुक जाय, अथवा महत्त्व का उपयोग होने पर भी उनके नित्य के जीवन में उपयोग न हो और साधारण लोगों का जीवन तो उनके बिना ही चलता हो, इस प्रकार की वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो सकता है।

२. इस प्रकार का व्यापार करने में किसी तरह की जबरदस्ती, हिंसा, राजनीतिक सत्ता के दबाव आदि का उपयोग नहीं होना चाहिए।

३. ऊपर गिनाई गई वस्तुओं को किसी भी तरह स्वदेश में उत्पन्न करने का आग्रह रखना अधर्म भी हो सकता है।

४. प्रयोगशाला में काम आनेवाले कुछ साधन, एक्सरे का यंत्र, विशेष प्रकार को घड़ियाँ, काश्मीर का ऊनी कपड़ा, केशर, इलायची, दालचीनी आदि विशिष्ट प्रकार की वनस्पतियाँ ये सब चीजें इस कोटि की मानी जा सकती हैं।

खण्ड सातवाँ: उद्योग

१. खेती

१. खेती हिन्दुस्तान का प्राणरूप धंधा है। भयंकर लूट का प्रवाह चल रहा है, फिर भी हिन्दुस्तान अभी तक जिन्दा है, उसका कारण यह है कि अन्न के बारे में वह अभी परावलम्बी नहीं बना है। पर यह स्वावलम्बन भी संकट में नहीं है ऐसा नहीं कह सकते।

२. हिन्दुस्तान की आर्थिक और राजकीय नीति खेती के धंधे को नष्ट कर रही है। इसके परिणाम-स्वरूप आज खेती का धंधा कमाई का धंधा नहीं रहा है।

३. ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में लगान की वसूली जमीन पर का पहला बोझ है। इसका निर्णय कायदे से किया गया है। स्वराज्य में इससे उल्टा होना चाहिए। मतलब यह कि खेती की समृद्धि राज्य का पहला दायित्व होना चाहिए और लगान आदि सब कर इस तरह लगाने और वसूल किये जाने चाहिए कि उनसे खेती को नुकसान न हो।

४. स्वराज्य की आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि जिस से देश के लिए आवश्यक अन्न का संग्रह देश में सदा बना रहे।

५. हिन्दुस्तान में फलवाले पेड़ों की पैदावार पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया है। इस पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

६. खेती की समृद्धि के लिए गोचर भूमि की सुविधा भी आवश्यक है। कृषि-विभाग और बन-विभाग की नीति ऐसी होनी चाहिए, जिस से लोगों को पशुपालन पुसा सके। पशुओं की खुराक के लिए विशेष प्रकार की खेती भी की जानी चाहिए।

७. खेती और दूसरे सब उद्योगों के सम्बन्ध में श्रम की वर्तमान दृष्टि ही भूलभरी है। यदि मनुष्य को लगान, कर, कर्ज आदि चुकाने की चिन्ता न हो, तो वह अपनी मेहनत से जिन चीजों को पैदा करता है, उनमें से किन्हें बेचकर अधिक-से-अधिक दाम कमा सकेगा, इसकी दृष्टि न रखकर वह इस दृष्टि से मेहनत करेगा कि स्वयं उसे, उसके परिवार को, उसके गाँव अथवा समाज को किस वस्तु की कितनी आवश्यकता होगी।

८. इस प्रकार वह सबसे पहले इस बात की चिन्ता करेगा कि उसके पास आवश्यक मात्रा में अन्न और घास-चारा बना रहे; केवल बढ़ी-चढ़ी कीमतों पर ध्यान रखकर वह कपास, तिलहन, तम्बाकू आदि के पहाड़ पैदा करने में अपनी ताकत नहीं खरचेगा।

९. अधिक दाम पाने के लोभ से की जानेवाली व्यापारी खेती से किसान को आखिर अधिक लाभ तो होता ही नहीं। एक ओर से आये हुए पैसे दूसरी ओर से निकल जाते हैं। किन्तु इससे नैतिक हानि बहुत होती है। वह स्वयं जो खेती करता है, उससे उसकी अपनी और दूसरे लोगों की शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक हानि कितनी होती है, इसका विचार करने की उसकी कर्तव्य-बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। तम्बाकू, अफीम आदि की खेती इसके उदाहरण हैं।

२. सहयोगी उद्योग

१. हिन्दुस्तान में खेती अनेकानेक प्राकृतिक संकटों के अधीन है। उनका मुकाबला करने के उपाय करने पर भी अधिकांश में स्थिति वैसी ही बनी रहेगी। दूसरे, खेती बारह महीनों का धंधा नहीं बन सकती। मौसम के दिनों में भी उस पर एक सरीखा श्रम नहीं करना पड़ता। अलग-अलग मौकों पर उसमें कई काम करनेवालों की ज़रूरत पड़ती हैं, और बीच के समय में स्वयं किसान और उसके घर के लोग भी फुरसत में रहते है। इस कारण हिन्दुस्तान में खेती और उद्योग को एक-दूसरे से बिलकूल अलग नहीं किया जा सकता; बल्कि खेती के साथ कोई भी दूसरा सहयोगी उद्योग होना ही चाहिए।

२. सहयोगी उद्योग में नीचे लिखी अनुकूलताएँ होनी चाहिए:

(क) वह मुख्य धंधे के (उदाहरण के लिए, खेती के) अनुकूल रहनेवाला होना चाहिए। उसके कारण खेती बिगड़नी नहीं चाहिए।

(ख) अतएव मुख्य धंधे के लिए मजदूरी की ज़रूरत पड़ने पर सहायक धंधा ऐसा होना चाहिए कि बीच में बिना नुकसान के वह छोड़ा जा सके अथवा उसकी ओर बिना ध्यान दिये भी उसका काम चल सके।

(ग) दूसरे, यह धंधा नौकरी का नहीं, बल्कि स्वतंत्र मजदूरी का होना चाहिए।

(घ) इन्हीं कारणों से इस धंधे में यंत्र अथवा कच्चे माल के लिए इतनी पूंजी लगाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए, जो ग़रीब जनता के बूते के बाहर हो।

(च) वह खेत के पास ही, अर्थात् अपने घर में अथवा गाँव में ही करने योग्य होना चाहिए।

(छ) यदि करोड़ों को सुझाना हो, तो यह धंधा ऐसा होना चाहिए कि इससे पैदा होनेवाला माल आसानी से खप सके; मतलब यह कि वह माल सार्वजनिक उपयोग का होना चाहिए।

(ज) इसी तरह करोड़ों की दृष्टि से ऐसे धंधे की व्यवस्था करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक फुरती, आसानी और किफायत से तंत्र खड़ा करने की संभावना होनी चाहिए।

(झ) इसके अलावा, करोड़ों की दृष्टि से यह उद्योग ऐसा होना चाहिए कि जिसे अपढ़, कम बुद्धिवाले, कम शारीरिक शक्तिवाले, छोटे-बड़े सब प्रकार के लोग कर सकें।

(ट) फिर भी यह धंधा ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिस से कारखाने की तरह यह धंधा भी मनुष्य को काम के बीच एक जड़ यंत्र के जैसा, आनन्दरहित तथा रसहीन और काम के बाद उकताया हुआ तथा थका हुआ बना दे।

३. इन सहयोगी उद्योगों में चरखा और गोपालन मुख्य हैं। ये दोनों उद्योग प्राचीन काल से खेती के साथ ही जुड़े हुए हैं और लम्बे समय के अनुभव की कसौटी पर खरे उतरे हैं।

४. जिस तरह डाक-तार और रेलगाड़ी के विभाग अखिल भारतीय माने जाते हैं, उसी तरह चरखे और गोपालन का महत्त्व भी अखिल भारतीय है। यही धंधे ऐसे हैं कि जिनमें बड़े पैमाने पर ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को आसानी से और सुविधा के साथ काम दिया जा सकता है।

५. इन दोनों धंधों का विशेष विचार अलग प्रकरणों में किया जायेगा। लेकिन गोपालन की अपेक्षा चरखे का महत्त्व इस बात में है कि गोपालन के धंधे के लिए थोड़ी-बहुत जमीन और पूंजी की आवश्यकता रहती है। इस कारण जिनके पास अपनी जमीनें हैं, उन किसानों का सहयोगी धंधा यह बन सकता है, परन्तु जो लाखों लोग सिर्फ खेतों पर मजदूरी करके अपना गुजारा करते हैं, उनके लिए यह उतना अनुकूल नहीं है। दूसरे, गोपालन खेती के अलावा एक स्वतंत्र धंधा भी हो सकता है और चरखा इन दोनों के साथ चल सकता है; इसी प्रकार गोपालन और चरखा दोनों एकसाथ किसान के सहयोगी धंधे भी बन सकते हैं।

६. चरखे पर जोर देने का यह मतलब नहीं है कि चरखे के अलावा दूसरा कोई सहयोगी उद्योग नहीं होना चाहिए। स्थानीय परिस्थिति अनुकूल हो और चरखे की तुलना में अधिक लाभ देनेवाला सहयोगी धंधा हो सकता हो, तो चरखे के बदले अथवा चरखे के साथ-साथ उसके लिए भी मौका रह सकता है। स्थानीय राज्यतंत्र और लोकतंत्र का कर्तव्य है कि वह उस पर ध्यान देकर उसे विकसित करे।

७. इस विषय में साधारणत: यह कहा जा सकता है कि जिस गाँव में जो कच्चा माल पैदा होता हो, उसका संग्रह करने, उसे बेचने और उसे उपयोग के लायक बनाने के लिए जो क्रियायें आवश्यक हों, वे क्रियायें भी वहीं, अर्थात् कच्चा माल पैदा करनेवाले स्थान पर ही होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, विदेशों में अथवा शहरों में धान नहीं जाता, लेकिन चावल जाते हैं और वे ही खाये जा सकते हैं। गेहूँ के बदले आटा बड़े पैमाने पर जाता है और आटे की बनी डबल रोटियों, बिस्कूटों आदिका चलन भी काफी अच्छा है; ईख से गुड़ या शक्कर तैयार करके ही उनका उपयोग किया जा सकता है। तिलहन का तेल ही काम में आता है; कपास का उपयोग कपड़े के द्वारा ही होता है। चमड़ा पकाकर उससे बनी अनेक चीजें काम में आती हैं। इसलिए धान कूटने, आटा पीसने, डबल रोटी और बिस्कुट बनाने, गुड़ और शक्कर बनाने, तेल पेरने, कपड़ा बुनने, चमड़ा पकाने और जूते बनाने के तथा ऐसे ही दूसरे धंधे गाँवों में ही चलने चाहिए; ये धंधे किसान और देहातवालों के लिए सहयोगी उद्योग बन सकते हैं। इस प्रकार के दूसरे कई धंधे गिनाये जा सकते हैं।

८. ऐसे धंधों के सहयोगी उद्योग के रूप में चलने से किसान को अनेक प्रकार के लाभ हो सकते हैं: उदाहरण के लिए, धान की भूसी, गेहूँ का चापड़, ईख के छिलके और सीठी, तिलहन की खली, बिनौले, सूत की टूटन आदि चीजें या तो किसान के ढोरों के काम आ सकती हैं अथवा उनसे खाद बन सकती है अथवा उनकी मदद से दूसरे धंधे भी चल सकते है।

३. 'सौ टका स्वदेशी'

१. स्वदेशी माल को बढ़ावा देना आवश्यक है। स्वदेशी धर्म के पालन में ही इसका समावेश होता है। किन्तु स्वदेशी माल को प्रोत्साहित करने के लिए जो आन्दोलन चलाया जाय, उसमें बहुत विवेक से काम लेना ज़रूरी है।

२. ऐसे विवेक के अभाव में जाने-अनजाने स्वदेशी के नाम पर एक प्रकार का पाखंड चलता है, अनेक कार्यकर्ताओं की शक्ति नष्ट होती है और आत्म-वंचना भी होती है।

३. जिन चीजों के प्रचार के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता नहीं, अथवा जिन्हें विज्ञापन की ज़रूरत नहीं, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को ऐसी चीजों की प्रदर्शनियाँ लगाने की आवश्यकता नहीं। क्यों कि इससे उनकी कीमत बढ़ जाती है और एक-दूसरे के साथ होड़ में पड़ी हुई समृद्ध पेढ़ियों के बीच अवांछनीय खींचातानी बढ़ जाती हैं।

४. उदाहरण के लिए, कपड़े, शक्कर अथवा चावल की मिलों को ऐसी मदद की ज़रूरत नहीं रहती। यही न्याय बड़ी हद तक कागज की देशी मिलों, तेल की मिलों, विलायती दवाइयों के देशी कारखानों, साबुन के कारखानों, दन्त-मंजन, ब्रश आदि के कारखानों, चमड़े के बड़े-बड़े कारखानों आदि पर लागू होता हैं।

५. इसका मतलब यह नहीं कि विदेशी वस्त्र, शक्कर, चावल, कागज, तेल, दवाइयाँ, साबुन, दन्त-मंजन, ब्रश आदि का उपयोग करने में कोई हानि नहीं। यदि परदेशी माल के हमले के विरोध में खड़े रहने की इनकी ताकत न हो, तो उन्हें पूरी-पूरी मदद मिलनी चाहिए और जिन्हें ऐसी चीजों का उपयोग करना ही है, उन्हें इन्हीं चीजों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

६. लेकिन जिन चीजों के लिए आज स्वदेशी आंदोलन की आवश्यकता है, वे ये नहीं हैं। आज आवश्यकता तो ग्रामोद्योगों की रक्षा की है। मतलब यह कि खादी, गुड़, गाँव में बनी शक्कर, हाथ-कुटे चावल, हाथ-बने कागज, बैलकी घानी का तेल, गाँवों में बने पाक,

रीठे, सीकाकाई, दतौन, देहाती झाडू, चटाई, टोकनी, रस्सियाँ, जाजमें, चमड़े की चीजें आदि-आदि गाँवों के सैकड़ों उद्योग, जो प्रोत्साहन के अभाव में मर चुके हैं या अधमरे बनकर जी रहे हैं, उन्हें सजीवन करना ज़रूरी हैं |

७. इस मामले में शहरवालों और पढ़े-लिखे लोगों ने गाँवों के प्रति अक्षम्य उपेक्षा का परिचय दिया हैं।

८. कुछ ही साल पहले गाँवों के लोग अपने नित्य के उपयोग की अनेक वस्तुएँ खुद ही बना लेते थे; यही नहीं, बल्कि छोटे-छोटे कस्बों में रहनेवाले लोगों के रोज-रोज के उपयोग की ऐसी कई चीजें थीं, जिन के लिए वे गाँववालों पर निर्भर करते थे। इसके बदले अब वे ही लोग इन चीजों को शहरों से या विदेशों से मँगाते हैं और जिन उद्योगों को गाँववालों के बाप-दादा पुश्त-दर-पुश्त करते थे, वे अब बन्द हो चुके हैं। किन्तु शहरी और पढ़े-लिखे लोगों ने इसकी कभी कोई चिन्ता ही नहीं की।

९. इसीका यह परिणाम है कि आज का ग्रामवासी कंगालियत, परावलम्बन और आलस्य का शिकार बन गया है। पचास साल पहले के ग्रामवासी में जितनी बुद्धि और कुशलता थी, उसकी आधी भी आज के ग्रामवासी के पास नहीं रही है। गाँवों के कारीगरों में भी बाकी के ग्रामवासियों के जैसी ही अबुद्धि और अकुशलता पाई जाती है।

१०. जिस घड़ी गाँववाले अपनी फुरसत के सारे समय को किसी उपयोगी काम में लगाने का निश्चय करेंगे और शहरवाले इन गाँवों में बनी चीजों को बरतने का संकल्प करेंगे, उसी घड़ी गाँववालों और शहरवालों के बीच का जो सम्बन्ध टूट गया है, वह फिर जुड़ सकेगा।

११. यह काम ऐसा है कि इसमें देशभकतों की एक बड़ी सेना खप सकती है। जितनी स्वदेशी मंड़लियाँ आज काम कर रही हैं, उन सबको और उनसे भी अधिक मंड़लियाँ को काम मिल सके, काम का इतना विशाल क्षेत्र गाँवों में मौजूद हैं। अनगिनत उद्योगों के बारे में सच्ची जानकारी इकट्ठा करना, अनेकों के बारे में खोज़ करना और अनेक प्रकार के कारीगरों के कल्याण में दिलचस्पी लेना ज़रूरी है। इससे अनेक लोगों

को, जो आज धंधों के बिना भूखों मर रहे हैं, प्रामाणिकता-पूर्वक और प्रतिष्ठा-पूर्वक काम करके अपना निर्वाह करने का साधन मिल सकेगा।

१२. सच्चे, सफल और सौ टका स्वदेशी का यही रूप है।

४. विशेष उद्योग

१. समाज का निर्वाह, उसकी समृद्धि और उन्नति अच्छी तरह हो, इसके लिए खेती अथवा वस्त्र के उद्योगों के अलावा दूसरे भी कई उद्योगों की आवश्यकता होती है। जैसे, धातु, कोयले, मिट्टी के तेल आदि की खानों और खनिज पदार्थों-सम्बन्धी उद्योग; नमक, मछली आदि समुद्री पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग; लकड़ी, लाख, रबड़, वनौषधियाँ आदि जंगल के पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग।

२. ये उद्योग खेती और वस्त्र के उद्योगों के समान जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य चाहे न हों, फिर भी आज के सामाजिक जीवन के लिए ये ऐसे उद्योग हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

३. इन उद्योगों में जनता के अधिक लोग नहीं लगते, फिर भी इनसे पैदा होनेवाली चीजों की ज़रूरत हरएक को रहती है; इसलिए अपने उपभोग के कारण इन उद्योगों के साथ समूची जनता का स्वार्थ जुड़ा हुआ है।

४. ये उद्योग सारे देश में नहीं चलते, बल्कि स्थानीय ही होते हैं।

५. इनमें से मछली पकड़ने और नमक पकाने के धंधे खेती और चरखे की कोटि के हैं। इनके सम्बन्ध की आर्थिक नीति वैसी ही होनी चाहिए, जैसी खेती अथवा चरखे की हो। जिस प्रकार सूत कातना हरएक किसान का हक माना जायेगा, उसी प्रकार नमक पकाना प्रत्येक समुद्र-तटवासी व्यक्ति का हक समझा जाना चाहिए।

६. ऊपर जिन दूसरे धंधों की चर्चा आई है, उनमें से अधिकतर के लिए बड़ी पूंजी, विशेष प्रकार की योग्यता, कुशल व्यवस्था और विशाल स्वरूप आदि की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के धंधों पर, फिर वे निजी साहस से चलें अथवा राज्य की सीधा देखरेख में चलें, राज्य का अंकुश नीचे लिखे अनुसार रहना चाहिए:

(क) इनसे बननेवाले सार्वजनिक उपयोग के पदार्थों का उपभोग जनता को सस्ते-से-सस्ते दामों में मिलना चाहिए;

(ख) ये पदार्थ अच्छी-से-अच्छी बनावट के और टिकाऊ होने चाहिए;

(ग) यदि ये धंधे निजी साहस से चलते हों, तो इनके मुनाफे और कीमत पर राज्य का अंकुश रहना चाहिए;

(घ) इनमें लगे हुए मजदूरों के स्वास्थ्य-सुख आदि की चिंता शासन को विशेष रूप से करनी चाहिए;

(च) इन उद्योगों में से जो उद्योग छोटे पैमाने पर, थोड़ी पूंजी से, गृहोद्योग के रूप में चल सकने योग्य हों, उन्हें विशाल उद्योगों का स्वरूप देने के मामले में यह मर्यादा रखनी चाहिए कि ऐसे विशाल कारखाने गृहोद्योंगो का नाश करनेवाले न बनें, और जो चीजें गृहोद्योग में बन सकें उन्हें बड़े कारखानों में बनाने की मनाही होनी चाहिए।

७. कपड़े के कारखाने भी जब तक वे चलें, ऊपर के नियम से बंधे रहें।

५. हानिकारक उद्योग

१. दारू, ताड़ी, अफीम, भांग, गांजा, तम्बाकू, गोला-बारूद, शस्त्रास्त्र आदि जो उद्योग जनता की नीति और आरोग्य का नाश करनेवाले हैं, उन्हें राज्य को निजी तौर पर नहीं चलने देना चाहिए; अथवा कड़े अंकुश के साथ ही चलने देना चाहिए।

२. इन धंधों को चलाने में राज्य की नीति इनसे आमदनी करने की नहीं होनी चाहिए, बल्कि चिकित्सा के या दूसरे कारणों से इन पदार्थों की जितनी आवश्यकता हो, उतने ही प्रमाण में इनकी उत्पत्ति करने और इन्हें जनता तक पहुँचाने की दृष्टिवाली होनी चाहिए।

३. इस प्रकार के पदार्थों का विदेशी व्यापार विदेशी राज्यों की इच्छा के अधीन रहकर ही चलाया जाना चाहिए।

६. उपयोगी धंधे

१. समाज के जीवन में उद्योगों के अलावा दूसरे कई उपयोगी काम करनेवालों की भी ज़रूरत पड़ती हैं; जैसे, शिक्षक, सिपाही, वकील, न्यायाधीश, अधिकारी, डॉक्टर, दुकानदार, भंगी आदि सफाई-काम करनेवाले, कारकुन आदि-आदि।

२. ये पेशेवर लोग स्वयं उपभोग के कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं करते, पर अप्रत्यक्ष रीति से पदार्थों की उत्पत्ति तथा उपभोग में और अनर्थकारी पदार्थों की उचित व्यवस्था करने में इनकी आवश्यकता होती है।

३. ऐसे पेशेवरों को निबाहने के लिए समाज पर जो बोझ पड़ता है, वह व्यवस्था-खर्च कहा जा सकता है। इसलिए इन पेशेवरों का प्रमाण और इन पर होनेवाला व्यवस्था-खर्च जनसंख्या और जनता की समृद्धि के हिसाब से मर्यादित होना चाहिए।

४. ये धंधे सेवा-वृत्ति से किये जाने चाहिए, कमाई करने और धनवान बनने की वृत्ति से नहीं। अतएव समाज की स्थिति और समृद्धि की मर्यादा के हिसाब से एक ओर इन धंधों में लगे हुए लोगों को इतना स्थिर वेतन देकर निश्चित बना देना चाहिए कि जिस से उनका जीवन-निर्वाह हो सके; और दूसरी ओर उन्हें इस व्यवस्था से संतोष मानना चाहिए और इस प्रकार मिलनेवाले वेतन या मेहनताने के अलावा दूसरी कोई कमाई न करते हुए अपने में जो भी योग्यता अथवा कुशलता हो, उसका अधिक-से-अधिक लाभ समाज को देना चाहिए।

५. यदि ये धंधे इस प्रकार की मर्यादा में रहकर चलें, तो ये समाज को सर्वोदय की दिशा में बढ़ाने में सहायक हों, और इन धंधों में लगने की अनुचित लालसा के लिए और इनके सिलसिले में बरती जानेवाली कुटिल युक्तियों के लिए कोई कारण न रह जाये।

६. जिसे पैसा इकट्ठा करना है, जमीन, घर और गहनों की भूख है, परिवार बढ़ाना है, उसके लिए तो उद्योग ही आकर्षक द्वार होने चाहिए और उद्योगों में उसके लिए सुविधा

होनी चाहिए। इन धंधों की कमाई की मर्यादा ऐसी रखनी चाहिए कि इस प्रकार की वृत्तिवाले लोगों को इस प्रकरण में वर्णित धंधे अनुकूल प्रतीत न हों।

७. इसके विपरीत, जिसे मर्यादित किन्तु स्थिर और निश्चित निवहि-व्यय लेकर सेवा करनी है, उसके लिए इन धंधों का दरवाजा खुला रहना चाहिए। अतएव इस प्रकार के धंधों में प्रवेश करने के लिए धंधे की योग्यता के अलावा चरित्र का स्तर अधिक ऊँचा होना चाहिए।

७. ललित कलाएँ

१. संगीत, कथा-कहानी, चित्रकला, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि ललित कलाएँ यदि मर्यादा में रहें, तो वे जनता के लिए निर्दोष मनोरंजन, ज्ञानप्राप्ति और भावना के विकास का साधन बनती हैं; यदि वे मर्यादा छोड़ दें, तो शराब और अफीम के समान हानिकारक व्यसनों का रूप ले लेती हैं।

२. साधारणत: ऐसी कलाओं को जीविका के लिए धंधे का रूप नहीं देना चाहिए। लेकिन हरएक आदमी अपनी जीविका के धंधे के अलावा इस प्रकार की एकाध कला में रस ले सके, इतनी शिक्षा उसे दी जानी चाहिए।

३. इस कारण जनता के मनोरंजन आदि के लिए इस प्रकार की कलाओं के प्रदर्श अथवा जलसे जनता को अपने उत्साह से ही गैरपेशेदार मंड़लियाँ खड़ी करके करने चाहिए।

४. इस प्रकार की कलाओं का शौक अमर्यादित, अनीति की ओर ले जानेवाला अथवा हानिकारक न हो, इसके लिए ऐसे प्रदर्शनों और जलसों पर अंकुश और निगरानी रखनी चाहिए।

५. ऊपर साधारण रुख की चर्चा की गई है। फिर भी हो सकता है कि ऐसी कलाओं से जीविका प्राप्त करने की मनाही करना व्यावहारिक रीति से संभव और हितकारक न हो। अतएव जो ग्राम-पंचायतें अपने को समर्थ पायें, वे इस बात की व्यवस्था करें कि जनता को इस प्रकार की कलाओं का निर्दोष, ज्ञानप्रद और सद्भाव-पोषक आनन्द मिल सके; और इसके लिए पिछले प्रकरण में उपयोगी धंधों के बारे में जो सुझाव दिये गये हैं, उनके अनुसार समृद्धि की मर्यादा को ध्यान में रखकर इस प्रकार के धंधे करनेवालों के लिए जीविका का निश्चित प्रबन्ध करना और उक्त प्रकरण में बताये अनुसार चरित्रवान मनुष्य प्राप्त करना पंचायतों का अपना एक कर्तव्य होना चाहिए।

६. जो लोग स्वतंत्र रूप से इस प्रकार के धंधे करना चाहें उन पर नीति-सम्बन्धी नियंत्रण होना चाहिए और उनके लिए परवानों और विशेष करों आदि के बंधन भी हो सकते हैं।

७. इस प्रकार की कलाओं के समुचित पोषण और संवर्धन के लिए राज्य की ओर से, अनुकूलतापूर्वक, विशेष योग्यता रखनेवाले कलाकारों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। यदि ऐसा करने में तारतम्य न टूटता हो, तो इसकी व्यवस्था करना उचित माना जायेगा।

८. प्रत्येक कारीगर, जो अपने धंधे में कलात्मकता का परिचय देता है, प्रोत्साहन का पात्र माना जाना चाहिए और इस प्रकार कला का पोषण करने की ओर राज्य को प्रथम ध्यान देना चाहिए।

खण्ड आठवाँ: गोपालन

१. धार्मिक दृष्टि

१. हिन्दू धर्म में गोपालन को धार्मिक महत्त्व दिया गया है, गोवध को महापाप माना गया है तथा राजाओं और वैश्यों को गोरक्षा के लिए विशेष रूप से जिम्मेदार समझा गया है। इसके कारण इस कार्य के लिए लाखों रुपये धर्मादे में दिये जाते हैं। फिर भी समुचित दृष्टि के अभाव में संसार के गो-भक्षक देशों की अपेक्षा हिन्दुस्तान में पशुओं की हालत अधिक दयाजनक है।

२. गोपालन-सम्बन्धी धार्मिक दृष्टि में नीचे लिखे अनुसार विकास करना आवश्यक हैं:

(क) अपंग और दुर्बल ढोरों का पालन करना ही गोपालन का क्षेत्र नहीं है, बल्कि गाय और बैल की नस्लों को सुधारकर गाय को अधिक पौष्टिक और भरपूर दूध देनेवाली बनाना तथा बैलों की किस्म सुधारना भी गोपालन के धर्म का अंग है।

(ख) इसके लिए पिंजरापोल ऐसे आदर्श गोशाला बन जाने चाहिए, जो लोगों को गोपालन का प्रत्यक्ष पाठ पढ़ा सकें। उनके गोठों में, चारा-चंदी आदि देने की उनकी पद्धति में और परिणामों के आलेख आदि रखने में शास्त्रीय चौकसाई और अभ्यास के दर्शन होने चाहिए।

(ग) पशुओं को नस्ल सुधारने का लाभ गाँव की जनता को मिले, इसके लिए पिंजरापोलों की ओर से बढ़िया सांडों का पालन होना चाहिए।

(घ) पिजरापोलों में एक चर्मालय-विभाग भी होना चाहिए; और मरे हुए ढोरों की हड्डियों, माँस और चमड़े का उद्योग चलाने की ओर धृणा की दृष्टि रखने के बदले कर्तव्य की दृष्टि रखनी चाहिए। लोगों को यह समझाना चाहिए कि मरे हुए ढोरों की हड्डी, माँस और चमड़े का उपयोग न होने देनेवाला मालिक ढोरों की हत्या

को बढ़ावा देता है, इसलिए जीवदया को धर्म माननेवाले को मरे हुए ढोरों के ही हाड़, माँस औरे चमड़े का सदुपयोग करने का आग्रह रखना चाहिए।[१]

(च) जिन्दा ढोर की तुलना में कत्ल किया गया ढोर अधिक कीमती माना जाता है। धार्मिक दृष्टि से यह स्थिति भयानक है, ऐसा सोचकर जिन्दा ढोरों के आर्थिक महत्त्व को बढ़ाने का प्रयत्न करना धार्मिक कर्तव्य प्रतीत होना चाहिए।

(छ) यह समझकर कि बैल को खस्सी करना अनिवार्य है, पिंजरापोलों में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिस से बिना कष्ट के उन्हें शास्त्रीय पद्धति से खस्सी किया जा सके।

(ज) जब किसी प्राणी को इतना कष्ट होता हो कि अपंग बन जाने के बाद भी उसके बचने की कोई आशा न रह जाये और केवल वेदना की अवधि ही बढ़ती हो, तो ऐसी दशा में यह विचार स्वीकार करना चाहिए कि किसी दुःखहीन उपाय द्वारा उसे प्राणमुक्त करना दया-धर्म है।

---

१. यहाँ हाड़-माँस के उपयोग का अर्थ खाने के लिए उनका उपयोग हरगिज नहीं है। आशय यह है कि खाद और दूसरी उपयोगी वस्तुएँ तैयार करने में इनका उपयोग किया जाय।

२. अन्य प्राणियों का पालन

१. सच है कि साधारणत: 'गो' शब्द में प्राणिमात्र का समावेश होता है; तथापि अहिंसा की दृष्टि से भी इसके व्यवहार में कुछ विवेक करना आवश्यक है। बिना किसी विवेक के प्राणियों का पालन परिणाम में हिंसा का ही पोषक बनता है।

२. इस प्रकार के विवेक के अभाव में भैंस के दूध-धी का उपयोग गाय-भैंस दोनों की हिंसा को बढ़ानेवाला सिद्ध हुआ है। इसके कारण यों हैं:

(क) भैंस पानी में और ठंडी जगह में रहनेवाला प्राणी है। उसे गरम और सूखे प्रदेश में रखने से उसके साथ क्रूरता होती है;

(ख) चूँकि पाड़े का कोई उपयोग नहीं किया जा सकता, इसलिए उसका वध होता है;

(ग) बैल के लिए गाय का और दूध के लिए भैंस का पालन होने से भैंस की तरह गाय का पालन लाभप्रद नहीं होता; इसी कारण उसे अधिक दूध देनेवाली बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। नतीजा यह है कि गाय के कत्ल को बढ़ावा मिलता है।

३. इस कारण भैंस के दूध-घी का त्याग करके भैंस पालना बन्द करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं होता कि भैसों का कत्ल कराया जाय, बल्कि भैसों की वृद्धि रोकना ही इसका आशय है।

४. इसी प्रकार विवेकपूर्वक सोचें, तो आवारा कुत्तों को खिलाने का धर्म भूलभरा है। कुत्ते को चाहनेवाले मनुष्य को उसे विधिवत् पालकर सब तरह से उसकी सार-संभाल करनी चाहिए, लेकिन रास्तों पर भटकनेवाले कुत्तों को खिलाकर उन्हें रास्तों में बढ़ने देने से उनकी यातना बढ़ती है और नस्ल भी उतरती है। दूसरे, इसके कारण लोगों को अड़चन होती है और पागल कुत्तों के काट लेने का डर बढ़ता है।

५. बन्दरों, कबूतरों, चींटियों आदि जीवों को खिलाने का धर्म तो इससे भी अधिक भूलभरा है। जिन प्राणियों का जीवन मनुष्य पर अवलम्बित नहीं है और जो मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं हैं, उनका पोषण करने में नासमझी है। इसके परिणाम-स्वरूप अन्त में हमारी कठिनाइयाँ और उन प्राणियों की हिंसा दोनों बढ़ती हैं।

६. जो लोग जैनियों अथवा वैष्णवों की प्राणियों-सम्बन्धी अहिंसा-धर्मवाली दृष्टि को नहीं मानते, उनके हाथों ऊपर कहे गये उपद्रवों के कारण, वैसे प्राणियों की हत्या बार-बार हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। ऐसे प्राणी-वध के लिए इन प्राणियों को खिलाने में धर्म समझनेवाला समाज ही बहुत-कुछ जिम्मेदार होता है। इसलिए ऐसे अवसरों पर उसका रोष अनुपयुक्त हैं।

३. प्राणियों के प्रति क्रूरता

१. किसी प्राणी को एक झटके से मार डालने की अपेक्षा उसके प्रति क्रूरता का बर्ताव करने में कम हिंसा नहीं है। हिन्दुओं में इस प्रकारकी हिंसा काफी होती है।

२. फूँके की क्रिया, आर लगाना, हद से ज्यादा बोझ लादना, पूरी खुराक न देना, पूँछ मरोड़ना, खुराक के लिए खुला छोड़ देना, चोट खाये हुए अंगों की मरहम-पट्टी न करना, काम के लायक न रहने पर उन्हें धर से निकाल देना, कष्ट पहुँचाकर खस्सी करना आदि रीतियाँ अमानुषिक और क्रूर हैं।

३. इस सबका परिणाम यह है कि हिन्दुस्तान के गाय, बैल, भैंस, घोड़े, गधे, कुत्ते, बिल्ली आदि सब प्राणी ऐसी हालत में जीते हैं कि देखकर जी काँप उठता हैं।

४. गोवध

१. हिन्दुओं की धार्मिक दृष्टि के संतोष के लिए ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान की आर्थिक दृष्टि से भी गोवध की मनाही होनी चाहिए।

२. लेकिन जब तक ऐसा न हो, तब तक हिन्दुओं को ही धीरज रखकर समझाइश और सेवा से गोबध रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. गोवध को रोकने के लिए मनुष्य (मुसलमान) का वध करना अधर्म है।

४. यह समझकर कि गाय की कुरबानी लाजिमी नहीं है, यदि मुसलमान खुद ही गाय की कुरबानी बन्द कर दें, तो यह उनका परम सत्कृत्य माना जायगा। इससे घटिया कृत्य यह माना जायेगा कि इस प्रकार की कुरबानी वे ऐसे खानगी ढंग से करें, जिस से हिन्दुओं का दिल न दुखे।

५. हिन्दुओं का दिल दुखाकर खुले आम गोवध करनेवाला अथवा गाय का जुलूस निकालनेवाला व्यक्ति धर्म-कर्म नहीं करता। ऐसे आचरण की मनाही होनी चाहिए।

६. त्योहार के दिन कुरबानी करनेवाले मुसलमान की अपेक्षा रोज अपने खाने के लिए गाय की हत्या करानेवाला अंग्रेजी राज्य हिन्दुओं का और हिन्दुस्तान का अधिक द्रोह करता है।

५. मरे हुए ढोर

१. कुछ लोगों की ऐसी भावना बन गई है कि अपने पाले हुए ढोर के मर जाने पर उसकी हड्डियों, मांस, चमड़े आदि का उपयोग करने की वृत्ति एक अनुदार वृत्ति है। परिणाम यह हुआ है कि या तो मरे हुए ढोर के किसी भी अंग का उपयोग नहीं किया जाता, अथवा ढेड़ या चमार उसका ग़लत तरीके से या अधूरा उपयोग करते हैं। वे उसका मांस खाते हैं, उसे घसीटकर ले जाते हैं और उसकी खाल को खराब करके उतारते हैं; उसकी हड्डियों को खुला छोड़ देते हैं, आदि-आदि।

२. इस भावना को छोड़ना ज़रूरी है। अपने ढोर को जब तक वह जीता है तब तक अच्छी तरह पालना और मरने पर उसे सम्मानपूर्वक तथा विधिवत् उठवाकर ठिकाने लगवाना चाहिए। यह सोचकर कि पशु मरने पर भी निरुपयोगी नहीं होता, जिस तरह जीते-जी उसके प्रति दया का व्यवहार करना ज़रूरी है और जैसे जीते-जी हम उससे लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार मरने के बाद भी कृतज्ञतापूर्वक उसके शरीर का उपयोग करने में कोई दोष नहीं है।

३. यदि मरे हुए ढोर का उपयोग नहीं किया जाय, तो आर्थिक दृष्टि से वह महँगा ही पड़ता है। परिणाम यह होता है कि ढोर को पालना पुसाता नहीं और गोपालन का समूचा धर्म छोड़ दिया जाता है।

४. मरे हुए ढोर को घसीटकर ले जाने की रीति ग़लत है। इससे उसका चमड़ा घिस जाता है और उस चमड़े की कीमत घट जाती है। उसे या तो उठाकर अथवा गाड़ी में डालकर ले जाना चाहिए।

५. खाल ठीक तरह से उतार लेने के बाद उसकी हड्डियों और मांस आदि का उपयोग खाद बनाने में करना चाहिए। उसकी आंतों की भी उपयोगी चीजें बनती हैं।

६. इस धंधे के विकास की बहुत संभावना है। अतएव शिक्षित लोगों का इससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या सीख लेनी चाहिए।

खण्ड नौवाँ: खादी

१. चरखे के गुण[१]

१. सहयोगी उद्योग के रूप में चरखे में जो गुण हैं, वे दूसरे किसी भी उद्योग में नहीं हैं। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार गिनाया जा सकता है:

(क) वह सुसाध्य है, तत्काल साध्य है; क्यों कि:

(१) उसके लिए कोई बड़े हथियार-औजार ज़रूरी नहीं। रुई घर की और औजार भी घरेलू;

(२) उसके लिए न तो विशेष बुद्धि ज़रूरी है और न कुशलता। अपढ़ और गँवार किसान भी उसे आसानी से चला सकता है;

(३) उसके लिए भारी मेहनत भी ज़रूरी नहीं। स्त्री, बालक, बूढ़े, बीमार सभी उसे चला सकते हैं; और

(४) वह तो सिद्ध हो चुका है।

(ख) कातनेवाले को घर बैठे धंधा मिलता है, उसका सूत हमेशा बिक सकता है और ग़रीब के घर में हमेशा दो पैसे बढ़ते रहते हैं।

(ग) उसे वर्षा की भी आवश्यकता नहीं। सूखे (अकाल) की हालत में वह भूखों का बेली बन जाता है।

(घ) उसमें कोई धर्म बाधक नहीं होता और न वह लोगों के लिए अरुचिकर ही होता है।

(च) लोगों को घर-बैठे काम मिलता है, अतएव जिस तरह मिलों के मजदूरों को खेती और घर-बार छोड़कर भागना पड़ता है और उनका परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसा कोई भय इसमें नहीं है।

(छ) अतएव हिन्दुस्तान की जो ग्राम-पंचायतें आज मृतप्राय हो गई हैं, उनके उद्धार की आशा चरखें में है।

(ज) किसान की तरह ही बुनकर का काम भी इसके बिना नहीं चल सकता। जो बुनकर आज हिन्दुस्तान की कुल खपत का एक-तिहाई कपड़ा बुनते हैं, चरखे के अभाव में वे एक दिन निराधार हो जायेंगे।

(झ) चरखे का पुनरुद्धार हुआ कि दूसरे हजार धंधों का उद्धार होगा। बढ़ई, लुहार, पिंजारा, रंगरेज आदि सब में नये प्राणों का संचार होगा।

(ट) यही एक ऐसी चीज है, जिस से धन के विषम विभाजन में समानता आ सकेगी।

(ठ) इसी से बेकारी मिटेगी। केवल किसान को ही फुरसत के वक्त में काम नहीं मिलेगा, बल्कि आज पढ़े-लिखे लोगों के जो झुंड के झुंड काम की तलाश में भटकते हैं, उन्हें भी पर्याप्त काम मिल जायेगा। इस धंधे के पुनरुद्धार का काम इतना बड़ा है कि इसकी व्यवस्था और संचालन के काम में हजारों शिक्षित खप सकेंगे।

२. इसके अलावा, जहाँ चरखा दुबारा दाखिल हुआ है, वहाँ उससे जो अन्य लाभ हुए हैं, उन्हें भी चरखे के गुणों में गिनाया जा सकता है। ये लाभ नीचे लिखे अनुसार हैं:[२]

(क) चरखे ने कइयों के जीवन में जीवन-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन किया है।

(ख) चरखे के परिणाम-स्वरूप शराब की बुराई दूर होने लगी है और किसान ऋणमुक्त होने लगे हैं।

(ग) अकाल के दिनों में राहत पहुँचाने के काम में चरखा सफल सिद्ध हुआ है।

---

१. ३१ अक्तूबर, १९२६ के 'नवजीवन' में प्रकाशित लेख से।

२. इस कंड़िका का यह भाग ७ नवम्बर, १९२६ के 'नवजीवन' में प्रकाशित लेख से लिया गया है।

२. चरखे के बारे में खोटे खयाल

१. चरखे के बारे में जो अनेक टीकायें होती रहती हैं, उनके मूल में चरखे के प्रति फैले हुए अनेक खोटे खयाल हैं। नीचे लिखे उत्तरों से पता चलेगा कि ये खोटे खयाल क्या है :

२. चरखा मिलों का प्रतिस्पर्धी नहीं है। हो भी नहीं सकता। बल्कि मिलें चरखे की होड़ में खड़ी हैं, और इस कारण उस हद तक वे बन्द कराने योग्य है।

३. जिस सशक्त मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति और पूरे समय का उपयोग करने योग्य काम मिल जाता है, उसे उसकाम से रोकना चरखे का उद्देश्य नहीं है।

४. कुल मिलाकर चरखा अवश्य ही देश का धन बढ़ाता है, और पूरी मजदूरी देने पर तो वह अपने चलानेवाले को रोजी भी दे सकता है। लेकिन अगर चरखा चलाकर कोई धनवान बनने की आशा रखे, तो वह धोखा खायेगा। यह चरखे का दोष नहीं, बल्कि गुण है; क्यों कि इससे धन का समान वितरण अपने-आप होता है।

५. हिन्दुस्तान के किसानों का खेती से बचनेवाला लगभग छह महीनों का समय आज व्यर्थ जाता है और इसीके परिणाम-स्वरूप बेकारी और ग़रीबी का बड़ा सवाल खड़ा होता है। चरखे में विश्वास रखनेवाले का यह दावा अवश्य है कि इस प्रश्न का तात्कालिक, व्यावहारिक और स्थायी उपाय चरखा है।

६. चरखे से आमदनी फूटी कौड़ी के बराबर ही क्यों न होती हो, फिर भी चूँकि किसान का साल का लगभग आधा समय व्यर्थ बीतता है, जिस में उसे फूटी कौड़ी की भी कमाई नहीं होती और वह बेकारी के रोग का शिकार बन जाता है, इसलिए इन दो चीजों के कारण हिन्दुस्तान के अर्थशास्त्र में चरखे को महत्त्व का स्थान प्राप्त होता है।

७. ऊपर यह जो कहा गया है कि चरखे से बेकारों को न-कुछ-सी भी आमदनी हो सकती है, सो आत्म-संतोष के लिए नहीं कहा गया है, बल्कि चरखे की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कहा गया है। असल में, क्या चरखे की, अथवा क्या दूसरी किसी मजदूरी की कमाई का नगण्य रहना संतोषजनक स्थिति का सूचक नहीं है। इस सम्बन्ध की चर्चा 'स्वावलम्बी और मजदूरीवाली खादी' शीर्षक प्रकरण में की गई है।

३. खादी और मिल का कपड़ा

१. खादी और मिल के बीच कोई होड़ माननी नहीं चाहिए, और सच पूछा जाय तो कोई होड़ है भी नहीं।

२. चरखा करोड़ों लोगों का गृहोद्योग है और वह उनके जीवन का आधार है। यदि चरखे को नष्ट करनेवाले ढंग से मिल का उद्योग चलाये और उसे चलाने दिया जाये, तो कहना होगा कि चलानेवाले और चलाने देनेवाले लोक-हित का विचार नहीं करते।

३. इस कारण अगर मिलें रहें, तो उनका क्षेत्र चरखे के क्षेत्र के बाहर रहना चाहिए। मतलब यह कि करोड़ों लोग जिस प्रकार का सूत कात और बुन सकते हैं, वैसा सूत और कपड़ा तैयार करने की मिलों को मनाही होनी चाहिए।

४. व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से विचार करें, तो किसी वस्तु की लागत कीमत का हिसाब बैठाने में उसमें लगे माल, पूंजी और मजदूरी का जो खर्च बनानेवाले को लगा है, उसीका विचार नहीं करना चाहिए | बल्कि यदि इस प्रकार से माल तैयार करने से बेकारों की संख्या बढ़ती हो, तो उन बेकारों को निबाहने का खर्च चूँकि जनता के माथे पड़ता है, इसलिए उस माल पर वह खर्च भी चढ़ा हुआ समझना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि खादीकी तुलना में मिल का कपड़ा देश को महँगा पड़ता है।[१]

५. यदि शासन-व्यवस्था आम लोगों के हित का विचारः करनेवाली हो, तो बेकारी दूर करने का पक्का प्रबन्ध किये बिना मिल खादी के साथ होड़ कर सके, इस प्रकार की व्यवस्था को वह कभी चलने ही न दे।

६. ऐसे शासन-तंत्र के अभाव में जनता को ग़रीबों के प्रति प्रेम की भावना से प्रेरित होकर मिलों के ऐसे धंधे को रोकना चाहिए।

७. मिलों की हानिकारक होड़ को रोकने के अहिंसात्मक मार्ग ये हैं: विदेशी वस्त्रों का और खादी के क्षेत्र में प्रवेश करनेवाली देश की मिलों का बहिष्कार और उनकी निगरानी, खादी पहनने की प्रतिज्ञा, खादी के लिए दान और यज्ञार्थ कताई।

---

१. इस विचार को समझने के लिए श्री ग्रेग की पुस्तक से लिये गये नीचे लिखे आंकड़े उपयोगी होंगे | हाथ-कताई और हाथ-बुनाई से फी आदमी जितना सूत और कपड़ा तैयार होता है, उसकी तुलना में मिल में प्रति व्यक्ति कताई (सन् ११२६ के हिसाब से) फी घंटा २०३ से २३६ गुनी अधिक और बुनाई २० गुनी अधिक होती है। मतलब यह कि अगर दोनों बराबरी का समय देकर मजदूरी करें, तो सूत की मिल का नजदूर २०० से अधिक कातनेवालों को और मिल का बुनकर हाथ-करघे पर बुननेवाले २० बुनकरों को बेकार बनाता है। यदि उदारता-पूर्वक हिसाब लगाकर यह मानें कि ऐसे बेकारों का तीन-चौथाई हिस्सा अथवा समय दूसरे धंधोंमे जाता है, तो भी २६७ १/२ लाख मनुष्यों की बेकारी का नुकसान देश को ३ आना रोज के हिसाब से भुगतना होता है। इनके निर्वाह का खर्च विदेशी और स्वदेशी मिल के कपड़े पर चढ़ाया जाये, तो फी गज १ आना ९ पाई और केवल विदेशी कपड़े पर चढ़ाया जाये, तो फी गज ६ आना २ पाई कपड़े की कीमत बढ़ जाती है। यदि जनता की सरकार इन बेकारों का निर्वाह-व्यय कपड़ों की मिलों से प्रत्यक्ष करके रूप में वसूल करें तो फिर स्पष्ट ही पता चल जायेगा कि मिल का कपड़ा सस्ता नहीं है। आज यह खर्च जनता परोक्ष रीति से देती है, इस कारण कपड़े के बाजार-भाव पर वह चढ़ता नहीं है। इस विषय की विस्तृत चर्चा के लिए पाठकों को श्री ग्रेगकी 'खादी का व्यापक अर्थशास्त्र' पुस्तक पढ़नी चाहिए।

-कि॰ ध॰ म॰

४. चरखा और हाथ-करघा

१. यह सुझाव कि चरखे की प्रवृत्ति के बदले केवल हाथ-करघे की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जाय और मिल के सूत का नहीं, बल्कि केवल मिल की बुनाई का बहिष्कार किया जाय, चरखे के बारे में ठीक जानकारी न होने से ही सामने आता है। क्यों कि:

२. जिस प्रकार कातने का उद्योग सर्वव्यापी हो सकता है, उस प्रकार हाथ-करघे का उद्योग सर्वव्यापी नहीं हो सकता।[१]

३. ऐसा सुझाव देनेवालों के ध्यान में यह बात नहीं आई कि चरखा एक सहायक उद्योग ही बन सकता है और बुनाई का धंधा तो एक स्वतंत्र उद्योग भी हो सकता है।

४. यदि कानून से मिल की बुनाई बन्द न हो, लेकिन जनता के प्रयत्न से ही उसका बहिष्कार करना पड़े, तो उस हालत में बुनकरों को मिलों की दया पर ही जीना पड़ेगा। क्यों कि मिलें तो हाथ-करघे की होड़ में खड़ी हैं और दिन पर दिन मिलें ही अधिक कपड़ा बुनती जा रही हैं। यह होड़ अधिक तीखी और घातक बनती जायेगी।

५. इसके विपरीत, हाथ-करघा और चरखा दोनों जुड़वाँ भाई हैं। एक-दूसरे के बिना दोनों जी नहीं सकते।

६. हर घर में एक चरखा और छोटी बस्तीवाले हरएक गाँव में एक करघा, यह आनेवाले युग के विधान का मंत्र है।

---

१. ताजे हिसाब के अनुसार हिन्दुस्तान को हररोज दो करोड़ गज कपड़े की ज़रूरत रहती है | (यह सारा कपड़ा हाथ-करघे पर बुनाया जाय तो भी) अधिक-से-अधिक हम रोज दो घंटे काम करनेवाले एकाध करोड़ बुनकरों को काम दे सकते हैं | यदि यह कहा जाय कि इतने बुनकरों को नहीं, बल्कि इतने परिवारों को काम मिलेगा, तो रोज के दो आने भी उतने लोगों के बीच बँट जायँगे; अर्थात् फी आदमी कमाई की मात्रा घट जायेगी | **- कि० ध० म०**

५. खादी-उत्पत्ति की क्रियाएँ

१. खादी-उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली ओटने से लेकर बुनने तककी सब क्रियाएँ गृहोद्योग द्वारा ही होनी चाहिए। यदि खादी से सम्बन्ध रखनेवाली किसी भी क्रिया के बारे में कारखानों पर ही आधार रखना पड़े, तो संभव है कि उससे खादी का मूल उद्देश्य किसी भी समय संकट में फँस जाये।

२. अतएव चरखी (ओटनी) और पींजन को चरखे के आनुषंगिक अंग समझना चाहिए।

३. ओटनी, पींजन, चरखा और करघा, इन सब में जो भी सुधार किये जायें, वे इस मर्यादा में किये जाने चाहिए कि जिस से इनका गृहोद्योगवाला रूप नष्ट न हो जाये।

४. खादी को सुधारने के लिए कपास चुनने से लेकर कपड़ा बुनने तक की सब क्रियाओं का और यंत्रों का बारीकी से अध्ययन करके सबमें सुधार करना ज़रूरी है।

५. इसके लिए जिसके पास कपास की खेती है, उसे अपने उपयोग के लिए अपनी ही कपास का संग्रह करना चाहिए। यह पहला कदम है। ऐसा करनेवाला किसान उत्तम बीज प्राप्त करने की चिंता रखेगा और कपास को पौधे पर से इस तरह चुन लेगा कि जिस से उसमें कचरा लगे ही नहीं। किसान खुद ही यह सब करने लगेगा; लेकिन उसे इसका महत्त्व समझाने, उसका मार्गदर्शन करने और उसे सूचनायें देने की ज़रूरत रहेगी।

६. ओटनी द्वारा ओटे गये कपास के बीजों को कोई नुकसान नहीं पहुँचता और रुई के रेशों की मजबूती कम नहीं होती। ताजी ओटी हुई रुई को पींजने में आसानी होती है।

७. अच्छी कताई का बहुत-कुछ आधार अच्छी पूनी होती है। जो कातना जानते है, वे अच्छी और खराब पूनी के भेद को समझते है, और जो पींजना जानते हैं, वे उसकी क्रियाओं के भेद को समझते है। इसलिए पींजना जाननेवाला दूसरे की पूनी निरुपाय होने पर ही बरतना पसन्द करता है।

८. खराब पूनी सूत का नम्बर घटा देती है और टूटन बढ़ा दती है; इस कारण आर्थिक दृष्टि से यह बहुत हानिकारक है।

९. रुई के प्रकार की मर्यादा से अधिक मोटा सूत कातना अथवा अधिक महीन कातना, दोनों हानिकारक क्रियायें हैं। लेकिन आम तौर पर कातनेवालों का झुकाव मोटा कातने की ओर रहता है। इसे रोकना ज़रूरी है। रुई की किस्म जितना सहन कर सके, उतना महीन सूत कतवाने की ओर खादी के उत्पादकों का ध्यान रहना चाहिए।

१०. उत्पादकों को इस बात का भी खयाल रखना चाहिए कि सूत पर्याप्त कसवाला और समान हो।

११. महीन सूत का मतलब है थोड़ी रुई में अधिक कपड़ा, कसदार सूत का मतलब है टिकाऊ कपड़ा और समान सूत का मतलब है एकसे पोतवाला सुन्दर कपड़ा। यदि सूत मजबूत और समान हो, तो बुनकर कम मजदूरी पर बुनने को तैयार हो सकता है। अतएव खादी को सस्ती करने के ये महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

१२. खादी-सेवक को उत्पत्ति की सब क्रियाओं का अनुभवजन्य ज्ञान होना चाहिए। साथ ही खादी की उत्पत्ति के सिलसिले में बरते जानेवाले सब यंत्रों के गुण-दोषों का और उनकी सार-संभाल तथा मरम्मत का ज्ञान भी उसे होना चाहिए। उसे खुद इतना कारीगर होना चाहिए कि वह गाँवों के किसानों को ही नहीं, बल्कि बढ़ई, लुहार आदि कारीगरों को भी सिखा सके और उनका मार्गदर्शन कर सके। इसके अलावा, उसे खादी के आर्थिक पहलू का भी ज्ञान होना चाहिए।

६. स्वावलम्बी और मजदूरीवाली खादी

१. यदि किसान अपने ही खेत की कपास को खुद ओट, पींज, कात ले और केवल बुनाई का खर्च करे, तो उसे खादी मिलसे भी सस्ती पड़े। इसे वस्त्र-स्वावलम्बन कहते हैं। जो किसान बुनने की क्रिया सीखकर स्वयं बुनने लगता है, वह तो पूरा स्वावलम्बी बन जाता है और उसे कपड़ा बहुत सस्ता पड़ता है।

२. जब किसान खासकर ढुलाई-खर्च चढ़ी हुई रुई खरीदता है और उस पर ऊपर की सब क्रियायें करता है, तो वह कपड़ा मिल के कपड़े की तुलना में आज कुछ महँगा पड़ता है। लेकिन सूत के कस और नम्बर में सुधार होने पर वह कसर निकल सकती है। हम जिस हद तक खादी को टिकाऊ बनाने में सफल होते हैं, उस हद तक उसकी कीमत सस्ती हुई मानी जायेगी।

३. मजदूरीवाली खादी की किस्म में और सस्ताई में अब तक जो प्रगति हुई है, उससे उसके भाव के बारेमें और चरखे का कार्य सच्ची दिशा में होनेवाला कार्य है, इसके बारेमें शंका नहीं रहती।

४. लेकिन अब स्पष्ट लग रहा है कि मजदूरीवाली खादी सस्ती करने के लिए जो मेहनत की गई है, वह सब योग्य दिशा में नहीं हुई है। जिन ग़रीबों के हित के लिए यह कार्य खड़ा हुआ, उन्हें इससे उनकी रोटी के लायक रोजी मिलती है या नहीं, इसकी ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, उतना नहीं दिया जा सका।

५. खादी अथवा दूसरे ग्रामोद्योगों के उद्धार के लिए काम करनेवाले सेवकों और संघों का धर्म केवल कुछ उद्योगों को किसी भी प्रकार शुरू कर देना नहीं है। उनका धर्म यह देखना भी है कि उन उद्योगों में लगे हुए लोगों को अपनी गुजर-बसर के लायक मजदूरी मिलती है या नहीं। अगर मेहनत करनेवाले को उतना मेहनताना न मिलता हो, तो यह कहना पड़ेगा कि उस उद्योग के उद्धार के द्वारा ग़रीब की मेहनत का अनुचित लाभ उठाया जा रहा है |

६. साथ ही, उन्हें यह देखकर सन्तोष नहीं करना है कि मजदूरों को मेहनताना चुका दिया गया है अथवा पहुँच गया है। बल्कि उन्हें हरएक मजदूर के जीवन में प्रवेश करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वह अपने धंधे में अच्छे-से-अच्छा कारीगर बने और अपनी आमदनी का उपयोग अक्छे-से-अच्छे ढंग से करे।

७. खादी के सिलसिले में सुझाये गये नीचे के नियम सब ग्रामोद्योगों पर उचित रीति से लागू किये जा सकते हैं:

(१) हरएक कार्यकर्ता को कपास चुनने से लेकर सूत बुनने तक की सब क्रियायें भलीभांति सीख लेनी चाहिए, जिस से वह दूसरों को भी सिखा सके।

(२) व्यवस्थापकों को अपने-अपने क्षेत्र में काम करनेवाले पिंजारों, कतवैयों, बुनकरों आदि की सूची रखनी चाहिए।

(३) वे इस बात का भी पता रखें कि उनके कतवैये कौनसी रुई काम में लेते हैं और इस बात की चिंता रखें कि उस रुई से जितने नम्बर का सूत काता जा सकता हो, उससे ऊँचे नम्बर का सूत न कातें।

(४) कतवैयों को और खादी-उत्पादन के काम में मदद करनेवाले दूसरे कारीगरों को स्पष्ट कह देना चाहिए कि यदि वे अपने घरों में खादी का उपयोग नहीं करेंगे, तो उन्हें काम नहीं मिलेगा।

(५) इस चेतावनी के साथ ही इस बात की व्यवस्था भी कर देनी चाहिए कि उन्हें उनकी मजदूरी के बदले में हो खादी मिल सके।

(६) खादी-कार्यालय में आनेवाली सूत की हरएक गुंडी की मजबूती और समानता जाँची जानी चाहिए और जिस तरह कच्ची रोटी खाई नहीं जाती, उसी तरह कमजोर अथवा असमान सूत स्वीकारना नहीं चाहिए।

(७) साधारणत : हरएक कतवैये का सूत अलग ही रखा जाना चाहिए और जब कपड़ा बुनने लायक सूत इकट्ठा हो जाय, तो उसे अलग से बुनवाना चाहिए। इस रीति से खादी टिकाऊ बनेगी और उसकी बुनाई तथा पोत भी ज़रूर ही सुधरेगा।

(८) इस प्रकार तैयार हुए हरएक थान पर, जहाँ ओटनेवाला पींजनेवाला कातनेवाला और बुननेवाला अलग-अलग हो, वहाँ उन सबके नामों की चिट्ठियाँ लगी होनी चाहिए।

(९) जहाँ कारीगर एक ही परिवार के हों, वहाँ ऊपर की सब क्रियायें अपने परिवार में ही कर लेने के लिए उन्हें समझाना और प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि मजदूरी समान अधवा करीब-करीब समान कर दी जाये, तो यह बिलकुल आसान हो जाये।

(१०) इन कारीगरों के जीवन का और इनकी आमदनी तथा खर्च का ठीक-ठीक अभ्यास करना चाहिए और जो कारीगर अपनी आमदनी का उपयोग विवेकपूर्वक करते हों, उन्हें मदद करनी चाहिए।

(११) किसी भी अवसर पर खपत कम हो जाने के कारण संघ के अधीन काम करनेवाले कारीगरों की संख्या कम करनी पड़े, तो पहले उन्हें कम करना चाहिए जिन के पास आजीविका के दूसरे साधन हों। जहाँ तक मैं जान सका हूँ, इस समय तो हालत यह है कि कुछ प्रान्तों में कत्तिनें केवल आजीविका के लिए ही नहीं काततीं, बल्कि थोड़ी किफायत करके दो पैसे बचाने और उन पैसों से निकम्मी चीजें खरीदनेवाली स्त्रियाँ भी कातती हैं। इन लोगों को अच्छा आहार करने की अथवा अपना कर्ज चुकाने की तो फिकर ही नहीं होती।

(१२) हर जगह कार्यकर्ताओं को पींजनों और चरखों की जाँच बारीकी से करनी होगी। खास तौर पर चरखे का तकुआ पूरी तरह घूमता है या नहीं, इसकी जाँच की जानी चाहिए। चूँकि सूचित दरों में बढ़ोतरी करने का सुझाव दिया जा रहा हैं, अतः उसका मतलब यह नहीं है कि हरएक कातनेवाले को, फिर कोई कैसा भी क्यों न काते, यह बढ़ी हुई दर दी जायगी। दरों में थोड़ी वृद्धि अवश्य होगी, लेकिन वह तो उन्हीं को मिलेगी जो आज जितने समय तक कातते हैं, उतने ही समय में आगे अधिक तार कातेंगे और अधिक अच्छा

कातेंगे। जो कतवैया अथवा कत्तिन कातने की अपनी रीति में सुधार नहीं करेंगे, उन्हें कुछ भी बढ़ोतरी नहीं मिल सकेगी, सिवा उस हालत के कि जब खादी की माँग ही बढ़ जाय।

(१३) ऊपर के विवेचन का अर्थ यह होता है कि चरखा-संघ को नये चरखे, नये तकुए, नये मोढ़िये आदि बढ़िया साधन शुरूशुर में कुछ सस्ते भाव से देने होंगे। कई जगहों में तो माल और तकुए के सुधार से सूत का प्रकार अपने आप ही सुधर जायगा।

७. यज्ञार्थ कताई

१. यज्ञार्थ कताई का अर्थ है अपने लिए आर्थिक लाभ की दृष्टि न रखकर ग़रीबों के उपयोग के लिए कातना।

२. जो ग़रीबों के और देश के हित को समझते हैं, उन्हें इस प्रकार हररोज यज्ञार्थ कताई करनी चाहिए।

३. इस प्रकार जिन्हें थोड़े आर्थिक लाभ की भी ज़रूरत होगी, ऐसे ग़रीब भी कातने लगेंगे।

४. साथ ही, किसी प्रकार का कोई उत्पादक श्रम किये बिना अनेकानेक वस्तुओं का उपभोग करनेवाले हम लोग इस प्रकार श्रम की महिमा समझेंगे और उसमें अपना यत्किंचित् योग दे सकेंगे।

५. इस रीति से धनवान और ग़रीब दोनों एक प्रकार के श्रम में समान रूप से भागीदार बनकर एक-दूसरे के साथ ताल-मेल रख सकेंगे।

६. इसके अलावा, चरखे का परित्याग करके विदेशी वस्त्र लाने का जो पाप हमने किया है, यज्ञार्थ कताई को उसका प्रायश्चित्त भी माना जा सकता है |

७. इस कारण आज कातने का कर्तव्य केवल स्त्रियों का ही नहीं, बल्कि पुरुषों और बालकों का भी है।

८. जो अपना सूत खुद ही कात लेते हैं, वे देश के लिए आवश्यक कपड़ों में से अपने सम्बन्ध की जवाबदारी खुद उठाकर देश की उतनी मदद करते हैं। किन्तु इसे यज्ञार्थ कताई नहीं कहा जा सकता।

९. इस प्रकार कातने की मजदूरी का दान देश को बड़े पैमाने पर मिलने लगे, तो मजदूरीवाली खादी ग़रीबों की मजदूरी घटाये बिना सस्ती हो जाय।

८. खादी-कार्य

१. खादी के उत्पादन और उसकी बिक्री के काम में सैकड़ों महत्त्वाकांक्षी नौजवानों के लिए अपनी बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति, व्यापार-कुशलता और शास्त्रीय ज्ञान का परिचय देने के लिए विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। इस एक ही काम को भलीभांति पूरा करने से जनता अपनी स्वराज चलाने की शक्ति सिद्ध कर सकती है।

२. इसके अलावा, खादीरूपी सूर्य के आसपास गाँवों के अनेक उद्योग ग्रहों की तरह विकसित हो सकते हैं और उनकी मदद से जबरदस्ती निरुद्यमी और आलसी बने हुए लोगों के घर रोजी और धंधों से गुंजने लग सकते हैं।

३. साथ ही, यह कार्य आज आत्मशुद्धि में भारी योग दे रहा है। इसके निमित्त से कार्यकर्ता गाँव-गाँव में स्वराज्य का और उसकी तैयारी के रूप में जनता को जो कार्यक्रम पूरा करना है (अहिंसा, शराबबन्दी, अस्पृश्यता-निवारण, स्वच्छता, कौमी एकता आदि का), उसका संदेशा पहुँचा रहे हैं।

४. खादी-शास्त्र के बारे में सब प्रकार की जानकारी देने और खोज़ करनेवाला एक विभाग होना चाहिए।

खण्ड दसवां: स्वच्छता और आरोग्य

१. शारीरिक स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के बारेमें हिन्दुस्तान की कुछ जातियों ने ठीक ध्यान दिया हैं। लेकिन आम लोगों के बीच इस निमित्त से अभी बहुत काम करना है।

२. बालक की स्वच्छता पर तो ऊँची जातियों में भी बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। अनुभव यह नहीं है कि बालक के स्वयं स्वच्छ रहने की शक्ति प्राप्त करने से पहले माता-पिता उसे साफ-सुथरा रखने की पूरी चिंता रखते हों।

३. हिन्दुओं का एक बड़ा भाग धर्म के अंग के रूप में मानता है कि रोज नहाना चाहिए, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हरएक हिन्दू इस पर अमल करता है। दूसरे भारतवासियों में आम तौर पर रोज नहाने की आदत नहीं है। हिन्दुस्तान में रोज नहाना स्वच्छता और स्वास्थय दोनों के लिए आवश्यक है।

४. पर नहाने का मतलब शरीर भिगोना नहीं है। रोज नहानेवालों में से कई इससे आगे नहीं बढ़ते। नहाने का मतलब है शरीर का मैल छुड़ाकर छिद्रों को खुला करना। अतएव नहाने का पानी पीने के पानी के समान ही साफ होना चाहिए। यदि ऐसा पानी रोज पर्याप्त मात्रा में न मिल सके, तो गंदे पानी से नहाने के बदले साफ पानी में कपड़ा भिगोकर बदन को अच्छी तरह रगड़कर पोंछ लेना ज्यादा अच्छा है। हमारे देश के गाँवों में ही नहीं, बल्कि खासे बड़े कस्बों में भी लोग जिस प्रकार के पानी से नहाते हैं, वह नहाने लायक नहीं कहा जा सकता।

५. आँख, कान, नाक, दाँत, नाखून, बगल, जांघ आदि मैल छोड़ने अथवा मैल जमा होनेवाले अवयवों की सफाई के बारेमें सारे समाजों में और खासकर बालकों के बारेमें बहुत ही लापरवाही बरती जाती है। आम तौर पर छोटे बालकों में आँख की जो बीमारी पाई जाती है, वह इस बात का नतीजा है कि बच्चों की आँखें और नाक रोज साफ पानी से धोई नहीं जातीं और साफ कपड़े से पोंछी नहीं जातीं। इस सम्बन्ध में स्वच्छता की योग्य

आदतों का और अस्वच्छता के लिए घृणा का बहुत कम विकास हुआ है। अतएव ग्रामसेवकों और शिक्षकों के लिए यह बारीकी से ध्यान देने योग्य विषय है।

६. कपड़ों की स्वच्छता भी निजी स्वच्छता का ही एक अंग है। यह नहीं कहा जा सकता कि कपड़ों की गंदगी का कारण केवल ग़रीबी ही है। बहुत कुछ गंदगी तो सिर्फ इसलिए होती है कि अच्छी आदतें पड़ी नहीं हैं और स्वभाव आलसी बन गया है।

७. मनुष्य को यह सोचकर शरमाना नहीं चाहिए कि पैबन्दवाले कपड़ों से अपनी ग़रीबी प्रकट होती है। जिस प्रकार शूरवीर के लिए चोट भूषण-रूप है, उसी प्रकार ग़रीब के लिए पैबन्द भी भूषण माना जा सकता है। लेकिन कपड़ों के फटने पर उन्हें बिना सिला रखकर और मैले होने पर उन्हें बिना धुला रखकर मनुष्य अपनी ग़रीबी नहीं, बल्कि फूहड़पन और आलस्य प्रकट करता है। यह शर्मनाक है।

८. यह समझना ठीक नहीं कि साफ कपड़े दूध की तरह सफेद होने चाहिए। मेहनत-मजदूरी के काम करनेवाले ग़रीब लोगों को दूध की तरह सफेद कपड़े पुसा नहीं सकते। किन्तु उन्हें साफ पानी से बार-बार धोना और कुछ दिनों के 'अन्तर से साबुन, सोडे आदि से धोना और उबलते हुए पानी में डालकर जन्तुरहित करना आवश्यक माना जायगा।

९. शरीर पर पहने हुए कपड़ों से ही नाक, हाथ आदि पोंछना और उनमें रोटी या खाने की दूसरी चीजें बांधना बहुत गंदी आदत का सूचक है। जिनके पास बदन पर पहने हुए कपड़ों के अलावा दूसरा कोई कपड़ा ही नहीं है, ऐसे लोगों को छोड़कर बाकी लोगों को इस काम के लिए पुराने कपड़ों से छोटे रूमाल बनाकर उनका उपयोग करना चाहिए। इसमें कोई खर्च नहीं होता, इससे स्वच्छता की रक्षा होती है, और रूमाल को साफ रखना आसान काम है।

२. सुघड़ और स्वच्छ आदतें

१. शारीरिक स्वच्छता के अलावा निजी तौर पर कुछ दूसरी भी स्वच्छ और सुघड़ आदतों का विकास होना चाहिए। ऐसी आदतों के अभाव में हम दूसरे स्वच्छ आदतोंवाले लोगों के लिए घृणा पैदा करनेवाले बन जाते हैं।

२. हमारी आँखों को इस प्रकार की तालीम मिलनी चाहिए कि वे किसी प्रकार की गन्दगी देखकर सहन ही न कर सकें। इसका यह मतलब नहीं कि गन्दगी देखकर हम वहाँ से खिसक जायँ, बल्कि तुरन्त गन्दगी दूर करने की कोशिश में लग जायँ।

३. सुघड़ आदतोंवाला आदमी बैठने की जगह को साफ किये बिना बैठेगा नहीं और उठने पर उसे साफ कर के ही उठेगा। वह कागज का अथवा दूसरा कचरा जहाँ-तहाँ नहीं डालेगा। वह जहाँ-तहाँ थूकने से बचेगा। दतौन की चीरें, बीड़ी के ठूँठ, जली हुई दियासलाई आदि को वह जहाँ-तहाँ नहीं फेंकेगा; बल्कि इन सबके लिए खास टोकनी, बरतन अथवा दूसरा कोई पात्र रखेगा और उसीमें इन्हें डालेगा।

स्वच्छ और सुधड़ आदतों के लिए नीचे लिखें नियम भी पालने चाहिए:

४. बिना पानी के टट्टी न जाना।

५. टट्टी से लौटने पर हाथ-पैर अच्छी तरह और मलकर धोना, तथा टट्टी का लोटा—खास लोटा न हो तो—मांजकर साफ करना।

६. पीने के पानी के मटके में डुबोने के लिए अलग बरतन रखना। मुँह लगाया हुआ बरतन उसमें हरगिज न डुबोना। मटके के इतने पास खड़े रहकर पानी न पीना कि जिस से पीते समय पानी उस पर गिरे।

७. जहाँ कई लोगों के लिए पीने का एक ही बरतन हो, वहाँ गिलास को मुँह लगाकर पीना अनुचित है। ऊपर से पीने की आदत डालनी चाहिए, और जो इस तरह न पी सके उसे अपना अलग बरतन रखना चाहिए अथवा अंजलि से पीना चाहिए।

८. जीमकर उठने के बाद जीमने की जगह के आसपास जूठन बिखरी हो, तो उसे उठा लेना चाहिए; अगर जगह घर के अन्दर हो, तो उसे धो डालना चाहिए और बाहर खुले में हो, तो अच्छी तरह झाड़-बुहार डालना चाहिए। यह सब करने के पहले उस जगह में बार-बार जाना-आना, जूठन लगे पैरों को बिना धोये साफ कमरे में जाना और ऐसे स्थान पर दूसरों को जिमाना अनुचित है | अकसर ऐसी जगह मक्खियों के त्रास को न्योतनेवाली बन जाती है।

९. आम तौर पर करछुल अथवा चम्मच से ही परोसना चाहिए। साग, दाल अथवा भात जैसी चीजें हाथ से परोसना ठीक नहीं। इससे भी अधिक ग़लत बात जूठे हाथ से परोसना है। रोटी अथवा पूरी जैसी सूखी चीजें भी जूठे हाथ से नहीं देनी चाहिए।

१०. इस तरह परोसना कि परोसने का बरतन जीमनेवाले की थाली या कटोरी को छू जाय, अस्वच्छ है; दूसरी तरफ इस डर से कि कहीं परोसने का बरतन खानेवाले के बरतनों को छू न जाय, परोसने के बदले खाने की चीजों को थाली में फेंकना अथवा बिखेरना असभ्यता की निशानी है।

११. गंदे पैरों से अपने बिस्तर पर भी नहीं बैठना चाहिए। जहाँ कई लोग एक साथ सोये हो, वहाँ आने-जानेवाले को किसी के बिछौने पर पैर रखकर नहीं जाना चाहिए।

१२. काम कर के आने के बाद और लघुशंका के बाद हाथ धोये बिना खाने की चीज को छूना नहीं चाहिए अथवा पीने के पानी के मटके में हाथ नहीं डुबोना चाहिए। पान, तम्बाकू, बीड़ी आदि के व्यसनियों को इस विषय में अधिक सावधान रहना चाहिए। कुछ लोगों को बार-बार शरीर खुजलाना होता है और कुछ को बार-बार नाक साफ करनी पड़ती है; ऐसे लोगों को भी हाथ धोकर ही खाने-पीने की चीजों को हाथ लगाना चाहिए।

१३. जिस बालटी में कपड़े धोये हों उसे बिना माँजे और उसका चिकटापन बिना छुड़ाये कुएँ में नहीं डालना चाहिए और उससे पीने तथा भोजन बनाने का पानी नहीं भरना चाहिए।

१४. लघुशंका, कुल्ला, थूक आदि के लिए मोरियों का उपयोग करने का रिवाज बहुत ही गन्दा है। इसलिए सबसे अच्छा तो यही है कि ऐसी मोरियाँ घर के अन्दर रखी ही न जायँ। इन कामों के लिए खास बरतनों का उपयोग करना और उन्हें दूर ले जाकर साफ करना ही अच्छी-से-अच्छी रीति है। जिन गाँवों में बढ़िया प्रकार की गटरों का प्रबन्ध नहीं है, वहाँ मोरी का उपयोग होना ही नहीं चाहिए।

१५. फिर भी जहाँ मोरी का ही उपयोग करना ज़रूरी हो, वहाँ मोरी में लघुशंका के लिए बैठनेवाले को पास में पड़े हुए बरतन आदि पहले दूर हटा देने चाहिए, जिस से उन पर छींटे न उड़े; साथ ही, मोरी में इस तरह हाथ-पैर धोना और कुल्ले करना उचित नहीं कि जिस से आस पास छींटे उड़े।

१६. अपने पहने हुए कपड़े धोये बिना दूसरे को पहनने के लिए नहीं देने चाहिए।

१७. मुँह से गंदी गालियाँ बकने की आदत का भी व्यक्तिगत अस्वच्छता माना जा सकता है। जिस जीभ से ईश्वर का नाम लिया जाता है, उसी जीभ से गंदी गालियाँ निकलें, यह तो नहाकर धूरे में लोटने से भी अधिक गंदी बात है; क्यों कि इससे जीभ के साथ मन भी अपवित्र होता है।

३. बाह्य स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के विषय में हम ऊँचे वर्गवालों को शायद प्रमाण-पत्र दें भी; तथापि घर, आंगन, गली आदि की स्वच्छता के बारे में उन्हें प्रमाण-पत्र नहीं दिया जा सकता। किसी हद तक इसका प्रमाण-पत्र दलित जातियाँ पा सकती हैं। लेकिन इस मामले में सभी को अपने जीवन में बहुत सुधार करने की ज़रूरत है।

२. जहाँ-तहाँ थूकने, मल-मूत्र करने, कचरा डालने और उसके ढेर लगने देने की आदत हिन्दुस्तान के गाँवों, शहरों, तीर्थक्षेत्रों, रास्तों, नदियाँ, तालाबों, धर्मशालाओं, स्टेशनों, रेलगाड़ियों और जहाजों आदि को गंदगी से भर देती हैं।

३. इस आदत की जड़ में अस्पृश्यता का विचार है। जहाँ मनुष्य रहेगा, वहाँ गंदगी के निमित्त खड़े होंगे ही। लेकिन हिन्दुस्तान के स्पृश्य समाजने खुद गंदगी साफ करने के काम को हलका समझकर और इस परोपकारी काम के करनेवालों को अस्पृश्य मानकर जहाँ वे पहुँच नहीं सकते वहाँ की गंदगी को नियमित रीति से दूर करने के बदले इकट्ठा किया है और अस्पृश्यों के साथ सहयोग न करके उनके सिर पर इतना काम डाल दिया है कि वे उसे पूरा नहीं कर पाते। इसके परिणाम-स्वरूप देश में अनेक प्रकार के उपद्रवों ने घर कर लिया है और रोज काम आनेवाले स्थानों को इतना गंदा बना दिया है कि देखकर घिन आती है।

४. ऊपर जिन जगहों का उल्लेख किया गया है, वहाँ थूकना, मल-मूत्र का त्याग करना और कचरा डालना पाप है और वह अपराध माना जाना चाहिए।

५. पान-तम्बाकू आदि की आदत न हो, तो नीरोग मनुष्य को दतौन के अलावा और किसी समय थूकने की ज़रूरत नहीं होती। दाँत, नाक अथवा फेफड़ों के बीमार को बार-बार थूकना या नाक साफ करना पड़ता है। इससे यह साफ हो जाता है कि पान, तम्बाकू आदि की आदत डालने का मतलब है नीरोग होते हुए भी रोगी आदमी की पीड़ा ढोना। मनुष्य के थूक और बलगम में नाना प्रकार के विष पाये जाते हैं। ये विष हवा में मिलकर

स्वस्थ मनुष्य को अपनी छूत लगाते हैं। इसलिए थूक, बलगम आदि की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिस से वे नष्ट हो सकें।

६. हरएक घर में थूकने के लिए राख से भरा एक ठीकरा रखना चाहिए और सबको उसीमें थूकना चाहिए। इस ठीकरे को रोज दूर खेत में खाली करके नई राख से भर लेना चाहिए। अगर थूकने के लिए पीकदानी बरती जाती हो, तो उसे हर कहीं खाली नहीं करना चाहिए। बम्बई-जैसे शहर में जहाँ गटर की पूरी व्यवस्था हो, वहाँ पीकदानी भले मोरी में धोई जाय। लेकिन गाँवों और कस्बों में उसे खेतों में खाली करके उस पर सूखी मिट्टी डाल देनी चाहिए अथवा गरम-गरम राख में मिलाकर उस राख को दूर फेंक आना चाहिए।

४. शौच[१]

१. रास्ते में मल-त्याग की आदत तो कभी होनी ही नहीं चाहिए। खुले में, सबके देखते, मल-त्याग करना या बच्चों को भी कराना असभ्यता है।

२. अतएव हरएक गाँव में घरों के आस-पास सस्ते-से-सस्ते पाखाने बनवाने चाहिए और उन्हें नियमित रीति से साफ करना चाहिए।

३. अगर 'जंगल' ही जाना हो, तो गाँव से एक मील दूर, जहाँ बस्ती न हो वहाँ जाना चाहिए। जंगल में टट्टी फिरते समय गड्ढा खोद लेना चाहिए और टट्टी फिर चुकने पर मैले को भरपूर मिट्टीसे ढंक देना चाहिए। समझदार किसान अपने खेतों में ही ऊपर बताये अनुसार पाखाने बनाकर अथवा टट्टी जाने के बाद मैले को मिट्टी से ढंककर बिना पैसे की खाद खड़ी कर लें।

४. इसके अलावा, बालकों, बीमारों और असमयके उपयोग के लिए हरएक घर में एक पाखाना होना ही चाहिए। इसके लिए डिब्बों का उपयोग करना चाहिए और हरएक मनुष्य को हाजत रफा करने के बाद टट्टी पर भरपूर मिट्टी डालनी चाहिए। इन डिब्बों को रोज किसी खेत में गड्ढा खोदकर खाली करना चाहिए। गड्ढे को साफ मिट्टी से बंद कर देना चाहिए। डिब्बे को इस तरह साफ करना चाहिए कि उसमें बदबू न रहे।

५. पाखाने में पानी और पेशाब के लिए अलग डिब्बा या बालटी रखनी चाहिए और उपयोग करनेवाले को इतनी खबरदारी रखनी चाहिए कि जिस से बाहर बिलकुल गीला न हो।

६. गहरे गड्ढेवाले पाखाने निकम्मे होते हैं; क्यों कि इतनी गहराई में खाद बनानेवाले जन्तु नहीं होते, इस कारण उनमें से मलिन वायु पैदा होती है और वह हवा को दूषित करती है।

७. गलियों में लघुशंका करना पाप समझा जाना चाहिए। अतएव इसके लिए भी भरपूर मिट्टी से भरी हुई कुंड़ियाँ रखनी चाहिए, जिस से बदबू न आये और छींटे न उड़े।

८. हरएक आदमी को खुद पाखाना साफ करने की तालीम लेनी चाहिए। इससे उसे पता चलेगा कि पाखाने की ग़लत बनावट से और उसके ग़लत उपयोग से कितनी मेहनत बढ़ जाती है। फलतः वह पाखानों को खबरदारी के साथ बनाना, लगाना और बरतना सीखेगा और उसे इस बात का भी अंदाज हो सकेगा कि भंगी समाज की कितनी कठिन सेवा कर रहा है। इसके अलावा, उसे यह भी मालूम हो जायेगा कि सही तरीके से काम में लिये गये पाखानों को साफ करने में घिनाने-जैसा कुछ नहीं होता और यह भी पता चल जायेगा कि भंगी की कठिनाइयाँ का कारण उस काम की ही मलिनता नहीं है, बल्कि पाखानों के बरतने की रीति में रही हुई लापरवाही भी है।

९. मनुष्य के मल-मूत्र की तरह ही मवेशियों के गोबर और पेशाब का उपयोग भी खाद के रूप में ही करना चाहिए। गोबर के उपले पाथना चलनी नोटों को जलाकर तापने जैसा महँगा काम हैं। मवेशियों के पेशाब का कोई उपयोग नहीं होता, इससे आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से हानि होती है।

---

१. यह प्रकरण और इसके आगे के कुछ प्रकरण 'गाँवों की मदद में' नाम से प्रकाशित गांधीजी की लेखमाला पर आधारित हैं। यह पुस्तक हरएक का पढ़ जानी चाहिए। - **कि. ध. म.**

५. जलाशय

१. तालाबों, कुओं और नदियाँ का पानी साफ रहे, इस पर ग्राम-पंचायतों और ग्रामसेवकों को खूब ध्यान-देना चाहिए।

२. जलाशयों की वर्तमान स्थिति बहुत शोचनीय है। तालाबों में ही बरतन साफ किये जाते हैं, लोग उसीमें नहाते और कपड़े धोते हैं; ढोर भी वहीं पानी पीते हैं, नहाते है और पड़े रहते है; बालक और बड़े भी उसमें हाथ-पानी लेते हैं। तालाब के पास की जमीन पर लोग टट्टी तो फिरते ही है और फिर भी तालाब का वही पानी पीने तथा रसोई बनाने के काम में लिया जाता है। यह पाप माना जाना चाहिए और बन्द होना चाहिए।

३. गाँव के तालाब को पक्का बँधवा लेना चाहिए, जिस से उसमें ढोर न जा सकें, और उसके पास ही कुएँ की तरह ढोरों के पानी पीने के लिए हौज बनवा लेना चाहिए।

४. इसी तरह कपड़े धोने के लिए तालाब के पास पानी की एक टंकी बनवानी चाहिए और उसके चारों ओर पक्का थाला बनवाकर ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिस से उसका पानी फिर तालाब में न जाकर तालाब से अलग और दूर जा सके।

५. गाँव के लोग इस हौज और टंकी को खुद ही हाथोंहाथ भर दिया करें तो उत्तम हो; नहीं तो थोड़े खर्च से इन्हें भरवाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

६. माँजे हुए बरतन तालाब या कुएँ में नहीं धोने चाहिए, बल्कि बाहरवाली टंकी के पास माँजने और धोने के बाद ही उन्हें जलाशय में डुबोना चाहिए।

७. तालाब में व्यवस्था ऐसी रखनी चाहिए कि जिस से पानी भरनेवाले को अपने पैर पानी में डुबोने की ज़रूरत ही न रहे।

८. जिस गाँव में एक ही तालाब हो, वहाँ तालाब में पैठकर कभी नहाना ही नहीं चाहिए। जहाँ अधिक तालाब हों, वहाँ पीने के पानी का एक तालाब अलग रखना चाहिए।

९. समय-समय पर कुओं के अन्दर का गल निकालकर उन्हें साफ रखना चाहिए। उन्हें चारों ओर से पक्का बँधवाना चाहिए और उनके आसपास कीचड़ नहीं होने देना

चाहिए। इसके लिए कुओं पर पक्के थाले बनवाने चाहिए और कुएँ के आसपास गिरनेवाला पानी जमीन के अन्दर जाकर फिर कुएँ में न पहुँचे, इसके लिए उस पानी को दूर निकालने की व्यवस्था करनी चाहिए।

१०. इस प्रकार पानी को दूर निकालने के लिए घरों और कुओं आदि पर बनाई हुई नालियों में काई और सड़ी हुई वनस्पति जम जाती है, उसमें से बदबू निकलती है और मच्छरों को बढने के लिए जगह मिल जाती है। इसलिए इन नालियों की सफाई पर निरन्तर ध्यान दिया जाना चाहिए तथा इन्हें कूंचीवाले झाड़ू से घिसकर रोज साफ करना चाहिए।

६. रोग

१. रोग और रोग के बाहरी लक्षणों के भेद को समझना चाहिए।

२. सिर दुखना, बुखार आना, दम चलना आदि रोग नहीं हैं, बल्कि शरीर में उत्पन्न हुए विष अथवा रोग के बाहर दीखनेवाले परिणाम हैं।

३. प्राणियों का रक्त ऐसे परोपकारी जन्तुओं से बना हुआ है, जो शरीर में घुसे हुए विषों को बाहर निकालने के लिए जोरदार कोशिश करते रहते हैं। यह जोरदार कोशिश बुखार, दम, सूजन, दर्द आदि के रूप में सामने आती है।

४. जिन कारणों से ये विष उत्पन्न हुए हैं या होते रहते हैं, वे ही असल रोग हैं। बुखार वगैरा तो केवल बाहर के चिह्न हैं

५. गिरने, चोट लगने आदि दुर्घानाओं से उत्पन्न बीमारियों को छोड़ दें, तो आम तौर पर यह कह सकते हैं कि हर तरह की बीमारी का कारण असंयमी जीवन है।

६. खाने-पीने में असंयम, विषय-भोग में असंयम, नींद और जागरण का असंयम, आलस्य, अतिश्रम तथा नाटक-सिनेमा आदि के अलावा भोग-विलास, क्रोध, द्वेष, राग आदि भावनाओं के बलवान वेग इन रोगों को न्योतनेवाले मुख्य कारण हैं।

७. इस प्रकार का असंयम चाहे अज्ञान के कारण होता हो, भूल के कारण होता हा, अनिवार्यता के कारण होता हो अथवा जानबूझकर होता हो, इस सबका परिणाम शरीर को रोग के रूप में भुगतना पड़ता है।

८. इन सब कारणों के रहते जब इनके साथ गंदी हवा, गंदा पानी और गंदगी जुड़ जाती है, तो बीमारियाँ पैदा होती हैं।

९. अकसर यह पाया गया है कि स्वच्छ और संयमी जीवन बितानेवाले को छूतवाले रोगियों के बीच रहने पर भी छूत की बीमारियाँ नहीं होतीं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि मनुष्य के रक्त में बाहरी विषों को हटाने की भरपूर शक्ति है। असंयम के कारण जब यह शक्ति कम हो जाती है, तभी छूत लगती है।

१०. रोगों के कारणों की रोक-थाम इसका पहला इलाज हैं। इन इलाजों में पहला इलाज इन्द्रियों और मन के संयम के साथ स्वच्छ और पर्याप्त आहार-विहार, पर्याप्त श्रम तथा नींद हैं; और दूसरा स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी तथा कपड़ों, घरों, आंगनों और गलियों आदि की स्वच्छता हैं।

७. उपचार

१. शरीर में अस्वस्थता का पता चलते ही रोगों को रोकने के उपचार शुरू करना पहला कदम है।

२. यदि ये उपचार ठीक तरह से किये जायँ, तो प्राय : बीमारियाँ कुदरती तौर पर ही अच्छी हो जाती हैं। दवाइयाँ अधिकतर तो निकम्मी और हानिकारक भी होती हैं।

३. आहार-विहार की ग़लतियाँ को दूर किये बिना केवल हवा-पानी के सुधार से रोगमुक्त होने की इच्छा करना वैसा ही है, जैसा किसी चीज को साफ पानी से धोकर फिर गंदे कपड़े से पोंछना। और इन दोनों को सुधारे बिना दवाइयों से स्वस्थ होने की इच्छा रखना ऐसा मानने के समान है कि गंदे कपड़े को काला रंग दे देने से वह साफ हो जाता है |

४. दवाई के अलावा जो दूसरे शास्त्रीय उपचार हैं, उनका ज्ञान हरएक को होना चाहिए। ये उपचार आसान हैं और बिना खर्च के हो सकते हैं।

५. यह खयाल ग़लत है कि हरएक गाँव में दवाखाना अथवा अस्पताल होना चाहिए। कई गाँवों के बीच एक दवाखाना या अस्पताल भले रहे। आम तौर पर गाँव के दवाखाने का अर्थ होना चाहिए ग्रामसेवक द्वारा किये जानेवाले उपचार।

६. उपचारों में उत्तम उपचार है उपवास और उपवास के दिनों में कटिस्नान और सूर्यस्नान। स्वयंसेवक को इनकी योग्य रीति का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।[१]

७. इसके अलावा, गीली मिट्टी की पट्टी कई बीमारियों और बुखारों का उपचार कही जा सकती है। जोरों का बुखार चढ़ा हो, सिर दुखता हो, पेट में अथवा पेडू में पीड़ा हो, अंदर की मार से अथवा दूसरे किसी कारण से किसी जगह सूजन आई हो, नाक से लहू बहने लगा हो, खाज, खुजली-जैसे चमड़ी के रोग हुए हों, कब्ज रहता हो, गहरी नींद न आती हो, जहरीले जंतु ने डंक मारा हो, तो इन सब बीमारियाँ में बिना कंकरीवाली महीन

मिट्टी भिगोकर उसकी पट्टी दर्दवाली जगह पर रखनी चाहिए और एक के सूखने पर दूसरी पट्टी रखते जाना चाहिए। यह एक बहुत ही अकसीर कुदरती इलाज है।

८. जहाँ सेंक की ज़रूरत हो, जैसे, फोड़े को पकाना हो, श्वासोच्छ्वास लेने में परेशानी हो, थकावट के या सरदी के कारण दर्द हो, तो उस हालत में गरम पानी में रूमाल निचोकर, जलने से बचते हुए, सेंक लेने से बहुत आराम मिलता है। रेत, मिट्टी अथवा ईंट को खूब तपाने के बाद उसे कपड़े में लपेट कर उससे भी बिना जले सेंका जा सकता है।

९. मनुष्य के बीमार पड़ते ही उसका बिछौना दूसरों से अलग कर देना चाहिए। उसके आस पास मनुष्यों की और साज-सामान की भीड़ कम कर देनी चाहिए। उसे इस तरह सुलाना चाहिए कि जिस से भरपूर उजेले के साथ भरपूर हवा मिल सके, पर हवा के झोंके सीधे उसे न लगें। उसके कपड़े, चादर, ओढ़ना आदि साफ रखना चाहिए। उसके कम्बल, बिछौने, तकिये वगैरा को बार-बार तेज धूप दिखानी चाहिए।

१०. बीमार को जितनी ज़रूरत दवा देने की है, उससे कहीं ज्यादा ज़रूरत उसके शरीर, मन और पचनेन्द्रियाँ को आराम देने की हैं। इसमें से पचनेन्द्रिय को आराम देने की बात पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता हैं।

११. जहाँ भुखमरी के कारण ही बीमारी पैदा नहीं हुई हो, वहाँ बीमार को कोई भी रोग हुआ हो और उसमें उसका पेट खराब न हुआ हो, ऐसा क्वचित् ही होता है। इसलिए उपचारक का पहला काम है कि वह सबसे पहले उसके पेट को हलका करें। इसके लिए उसे वस्ती (एनिमा) देना पहला उपाय है। अगर बुखार तेज न हो, तो एकाध जुलाब भी दिया जा सकता है। इसके साथ एक या दो उपवास कराने में तो कोई हर्ज है ही नहीं। अगर बीमार बहुत ही कमजोर हो, तो उससे अधिक उपवास करवाने चाहिए या नहीं, इस के लिए अनुभवी की सलाह लेना आवश्यक होगा। इस प्रकार के सलाहकार हों या न हों, फिर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि जब बीमार का खून रोग के विष के साथ जूझ रहा हो, तब उस पर अन्न हजम करने का बोझ न पड़ना चाहिए। इसलिए यदि कुछ खिलाना ही पड़े, तो वह हलके से हलका और केवल प्राण-रक्षा के योग्य ही होना चाहिए

१२. गाय का अथवा बकरी का दूध ऐसी हलकी से हलकी खुराक मानी जा सकती है। बीमारी के चलते प्राण-रक्षा के लिए दस से बीस तोला दूध का आहार पर्याप्त माना जाना चाहिए।

१३. किन्तु बीमारी और उपवास में बीमार को स्वच्छ पानी भरपूर पिलाना चाहिए। पानी के साथ खाने का सोडा और थोड़ा नमक देना इष्ट है। साधारणत : खट्टा नीबू भी दिया जा सकता है; मलेरिया आदि बुखारों में जब कै होने लगे या सिर दर्द करता हो, तो नीबू ज़रूर देना चाहिए।

१४. हो सकता है कि मलेरिया में कुनैन देना ज़रूरी हो जाय; लेकिन आम तौर पर डॉक्टर जितनी अधिक मात्रा में देते हैं, उतनी मात्रा में देने की ज़रूरत नहीं रहती, बशर्ते कि ऊपर बताई गई सावधानियाँ रखी गई हों। कुनैन नीबू के रस में थोड़े सोडे के साथ लेने से कम नुकसान कर सकती है |

१५. बुखार बहुत तेज हो और उसे जल्दी उतारना इष्ट हो, तो गीली चादर का उपचार किया जा सकता है। 'आरोग्य की कुंजी' पुस्तक से इसे समझ लेना चाहिए।

१६. बुखार मुद्दती न हो, फिर भी बीमारी लम्बी चलती रहे, तो समझना चाहिए कि जलवायु-परिवर्तन की आवश्यकता है और उस हालत में बीमार को भिन्न प्रकार के जलवायुवाले किसी स्थान में ले जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि इसके लिए स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध स्थानों का ही पता लगाया जाय।

१७. ऊपर जो उपचार सुझाये गये हैं वे आकस्मिक बीमारियाँ के लिए है। लम्बी और पुरानी बीमारियाँ, जैसे क्षय, कोढ़, गलित कुष्ट, आदि का भी इस रीति से उपचार किया जा सकता है; पर उसके लिए अनुभवी की सलाह और धैर्य आवश्यक है।

१८. दवाइयाँ का सहारा लेने की आदत खराब है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि कई पुराने रोग दवा से मिटते ही नहीं।

१९. डॉक्टरों को चाहिए कि वे बीमारों को सादे उपचार सिखायें और दवा पर विश्वास कराना छोड़ दे।

२०. अकसर डॉक्टरों की दवाइयाँ का विश्वास ओझों के जंतर-मंतर अथवा झाड़ू-फूंकवाले विश्वास के समान ही भ्रमयुक्त होता है। रोगी को चंगा करनेवाली असल शक्ति उसके रक्त में विद्यमान प्राकृतिक प्राणशक्ति ही है। यह शक्ति हार न जाय, तो रोगी बच जाता है। समझना चाहिए कि उसे न हारने देने के लिए ऊपर सुझाये गये इलाज पर्याप्त हैं। इतने पर भी वह न बचे, तो जानना चाहिए कि उसकी उमर पूरी हो चुकी थी। डॉक्टरों और झाड़ू-फूंक करनेवालों के पीछे दौड़-धूप और पैसे की बरबादी नहीं करनीं चाहिए।

२१. अगर 'सोडा बाई-कार्ब' को (खाने के सोडा को) दवा मानें तो वह, और कमी-कदास रेंडी के तेल का जुलाब और कुनैन, तथा बाहरी इलाज के लिए आयोडीन, इससे अधिक दवाइयाँ रखना ग्रामसेवक के लिए आवश्यक नहीं। यदि इसके अतिरिक्त उसके पास बस्ती (एनिमा) का साधन भी हो, तो समझना चाहिए कि उसका औषधालय परिपूर्ण है।

---

१. इस विषय में गांधीजी की 'आरोग्य की कुंजी' नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए।

८. आहार

१. मनुष्य को माँसाहार की कोई आवश्यकता नहीं।

२. यह खयाल भ्रमपूर्ण और वस्तुस्थिति की दृष्टि से भी ग़लत है कि हिंदुओं का पतन माँसाहार छोड़ने के कारण हुआ है। क्यों कि इस बात के कोई प्रमाण नहीं मिलते कि हिंदू राजाओं और योद्धा जातियों ने लम्बे समय तक माँसाहार छोड़ा हो।

३. यह मानने का कोई कारण नहीं कि माँसाहार न करनेवाली जनता शरीर से पूरी सशक्त, नीरोग और बहादुर नहीं बन सकती।

४. निरामिषाहार का पक्ष लेते हुए भी माँसाहारी का द्वेष करना उचित नहीं। हिंदुस्तान में कई जातियों को तो केवल ग़रीबी के कारण ही माँसाहार करना पड़ता है।

५. दूध भी माँस ही है। अंतर इतना है कि उसके लिए प्राणी के वध के रूप में हिंसा नहीं करनी पड़ती। चित्तशुद्धि की दृष्टि से दूध का आहार विघ्नरूप है |

६. किन्तु निरामिषभोजी हिंदू समाज के लिए दूध के बदले दूसरा कोई वनस्पतिजन्य आहार सुझाया नहीं जा सकता, जो पर्याप्त पोषण देनेवाला हो। इसलिए न केवल दूध का अपवाद करना अनिवार्य है, बल्कि ऐसे उपाय करने की आवश्यकता है कि जिस से दूध हर किसीको मिल सके।

७. निरामिषाहार में वनपक्व अथवा बिना रांधा हुआ आहार प्रकृति-दत्त होने के कारण श्रेष्ठ है। दूसरे सब प्राणी प्रकृति द्वारा तैयार किये हुए आहार को उसके मूल स्वरूप में खाते है। इसमें मनुष्य को अपवाद-रूप समझने का कोई कारण ध्यान में नहीं आता।

८. फिर भी इस प्राकृतिक स्थिति से 'हट कर हमने रसोई पकाने का प्रपंच कुछ ऐसा खड़ा कर लिया है कि मनुष्य-समाज का बड़ा भाग अब केवल प्राकृतिक आहार पर निभने के लिए नालायक-सा बन गया है। और जो आहार स्वाभाविक रूप से लिया जा सकना चाहिए था, अब स्थिति यह हो गई है कि किसी कुशल अन्नशास्त्री की सलाह के बिना वह लिया ही नहीं जा सकता।

९. इस कारण रसोई पकाना बहुतों के लिए अनिवार्य हो गया है। फिर भी पकान या रांधने का अर्थ तो उबालना, सेकना अथवा भूनना ही होना चाहिए। लेकिन मनुष्य यहीं नहीं रुका। रांधने का सुधार (अथवा कुधार?) आरंभ करने के बाद वह जीभ के लाड़ लड़ाने में फँस गया और उसने अनेक प्रकार के मसालों की और खाद्य-पदार्थों की खोज़ कर डाली। जिसकी आवश्यकता शरीर के निर्वाह के लिए दवा के समान ही मानी जानी चाहिए थी, वह चीज जीवन का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन गई है और उसके पीछे जीवन का बहुतसा समय और शक्ति नष्ट होती रहती है।

१०. आरोग्य की दृष्टि से, विकारों की दृष्टि से और समय की दृष्टि से मसालों और पकवानों का उपयोग दोषरूप एवं त्याज्य है।

११. आज हिदुस्तान में हम जितने साग, सब्जी और फल खाते हैं, उससे अधिक मात्रा में खाने की आवश्यकता है। खास तौर पर टमाटर, मूली, ककड़ी और कुछ सब्जियाँ आदि तो बिना पकाये खाना आवश्यक है। आहार में दाल की अपेक्षा साग की विशेषकर बिना पकाये ताजे हरे साग की अधिक आवश्यकता है |

१२. चाय और कॉफी के व्यसन बिलकुल नये व्यसन है। ऐसे किसी पेय की हमें आदत ही नहीं थी। इन पेयों से कोई लाभ नहीं होता। ये दोनों हानिकारक पदार्थ है। चाय की खेती मानव-हिंसा से युक्त है। इन पेयों के कारण खान-पान का खर्च व्यर्थ ही बढ़ गया है। इनकी वजह से गाँवों में दूध नहीं रह पाता और शक्कर के उपयोग में हानिकारक वृद्धि हुई है।

१३. कुछ अनुभवियों का मत है कि चाय, कॉफी, तम्बाकू, भांग, गांजा, अफीम आदि का कोई व्यसनी स्थिरवीर्यता का दावा करे, तो वह माना नहीं जा सकता।

९. व्यायाम

१. जिसे बचपन से पर्याप्त शारीरिक श्रम करना पड़ता है, उसके लिए अखाड़े की कसरत क्वचित् ही आवश्यक होती है।

२. अखाड़े की कसरत मुख्यतः बैठा धंधा करनेवालों, सिपाहियों और जीविका के लिए पहलवानी करनेवालों के लिए हैं।

३. अनुभव यह नहीं कहता कि अखाड़े की कसरत से मनुष्य दीर्घायु और नीरोग अथवा बहादुर और श्रम-सहिष्णु बनता ही है। शरीर से पहलवान होने पर भी दिल से डरपोक और कसरत के अलावा दूसरे प्रकार के शारीरिक कष्ट तथा सरदी-गरमी के सामने हिंमत हार जानेवाले कई कसरतबाज आदमी पाये जाते हैं।

४. अखाड़े की कसरतें विकारवर्धक हैं, क्यों कि उनके परिणामस्वरूप आम तौर पर शरीर में गरमी बढ़ती है और आहार तथा भोग-शक्ति को वेग मिलता है।

५. फिर भी अखाड़े की कसरतों की बिलकुल मनाही करना हमारा उद्देश्य नहीं। दूसरी तालीमों की तरह उनका भी अपना मर्यादित स्थान है।

६. संघ-व्यायाम जैसे कवायद, ड्रिल बहुत उपयोगी तालीम है। और सभी युवक-युवतियों को उसकी आवश्यकता हैं।

७. सात्विक व्यायामों में शरीर के स्वास्थ्य के लिए महत्त्वपूर्ण व्यायाम चलने का है। उसे यथार्थ ही व्यायामों का राजा कहा गया है।

८. इसके अलावा आसनों और प्राणायाम को सात्विक व्यायाम माना जा सकता है; क्यों कि इन व्यायामों का प्रधान उद्देश्य शरीर को भोगी बनाना नहीं, बल्कि शुद्ध बनाना है। इनसे कई बीमारियाँ भी दूर होती हैं।

९. लेकिन इन व्यायामों को भी जीवन के व्यवसाय का रूप देना और इन से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती बताई जाती हैं, उन्हें ध्यान में रखकर उनके पीछे पड़ना उनका दुरुपयोग करना है। जिस प्रकार शरीर में इकट्ठा होनेवाली अशुद्धियाँ को मल-मूत्र द्वारा

बाहर निकाला जाता हैं, उसी प्रकार शरीर की कुछ दूसरी अशुद्धियाँ को आसन और प्राणायाम द्वारा दूर करना ही इन व्यायामों का हेतु हैं।

खण्ड ग्यारहवाँ: शिक्षा

१. शिक्षा का ध्येय

१. सा विद्या या विमुक्तये। विद्या वह है, जो मुक्ति के योग्य बनाये; बाकी सब अविद्या है।

२. अतएव जो चित्त को शुद्ध न करें, मन और इंद्रियों को वश में रखना न सिखाये, निर्भयता और स्वावलंबन पैदा न करें, निर्वाह का साधन न दे और गुलामी से छूटने की और आज़ाद बने रहने की शक्ति और जोश पैदा न करें, उस शिक्षा में जानकारी का कितना ही खजाना क्यों न हो, कितनी ही तार्किक कुशलता और कैसा भी भाषा-पाण्डित्य क्यों न हो, फिर भी वह शिक्षा नहीं है, अथवा अधूरी शिक्षा है।

२. अराष्ट्रीय शिक्षा

१. ८० अथवा ८५ प्रतिशत मनुष्यों के जीवन की ज़रूरतों का विचार करने के बदले मुट्ठीभर मनुष्यों की ज़रूरतों का अथवा राज्य के कुछ विभागों की ज़रूरतों का ही विचार करके चलाई जानेवाली शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा तो है ही नहीं, बल्कि झूठी शिक्षा होनेके कारण अविद्या ही है।

२. इस शिक्षा ने शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच बड़े भेद पैदा कर दिये हैं, और विद्वानों को जनता का अगुआ, मार्गदर्शक और प्रतिनिधि बनाने के बदले उन्हें जनता से दूर रहनेवाला, जनता के जीवन को और उसकी भावनाओं को न समझनेवाला, जनता में दिलचस्पी न ले सकनेवाला और जनता का पक्ष प्रस्तुत न कर सकनेवाला बना दिया हैं।

३. इस शिक्षा ने अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए मकान, साधन, पुस्तक, मृगजल की भांति दूर से मोहक प्रतीत होनेवाले लाभों की आशा और सजधज आदि का आडंबर खड़ा करके जनता को कर्ज में डुबो दिया हैं।

४. इस शिक्षा ने जनता में अनेक भ्रम निर्माण किये हैं: जैसे, अक्षर-ज्ञान और शिक्षा एक ही है और उसके बिना शिक्षा हो ही नहीं सकती; कहा जाता है कि मजदूर का जीवन बितानेवाला शिक्षित व्यक्ति अपनी शिक्षा को लजाता है; शिक्षित का अर्थ है अंग्रेजी पढ़ालिखा, आदि-आदि।

५. इस शिक्षाने जनता को धर्म-विमुख बनाया है और अनेक पीढियों से पोषित धर्म और संयम के संस्कारों को मिटा डालने का ही काम किया हैं।

६. चित्त शुद्धि के महत्त्व के अंग—जैसे ईश्वर, गुरु, पिता आदि के प्रति भक्ति, नीतिमय जीवन के लिए आग्रह, संयम तथा तप में श्रद्धा—इन सब विषयों में आधुनिक शिक्षा ने शिक्षितों को शंकाशील या नास्तिक बना देने की दिशा में प्रयत्न किया हैं।

७. यदि उपरोक्त परिणामों से कोई बच गये हैं, तो वे शिक्षा के कारण नहीं, बल्कि शिक्षा के बावजूद घर के ऊँचे वातावरण के कारण बचे हैं।

८. इस शिक्षा ने भोग और संपत्ति के प्रति इतनी दृढ़ श्रद्धा पैदा कर दी है कि इनके कम होने की आशंका-मात्र से शिक्षित हिंमत छोड़ देते हैं और स्पष्ट रूप से दीखनेवाले धर्म का आचरण करने में अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं।

३. राष्ट्रीय शिक्षा

१. हिंदुस्तान की राष्ट्रीय शिक्षा इस विचार पर आधारित और आयोजित होनी चाहिए कि हिंदुस्तान की ८० से ८५ प्रतिशत जनता को किस प्रकार का जीवन बिताना पड़ता है।

२. हिंदुस्तानकी ८५ प्रतिशत जनता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से खेती के सहारे अपना निर्वाह करती हैं; इसलिए उसकी शिक्षा उसे उत्तम किसान बनाने और खेती के सहारे निभनेवाले धंधों का ज्ञान कराने की दृष्टि से चलाई जानी चाहिए।

३. शिक्षा से जीविका का प्रश्न हल होना चाहिए; अतएव औद्योगिक शिक्षा को शिक्षा का प्रधान अंग होना चाहिए।

४. जनता की जीविका के प्रश्न का हल खोज़े बिना 'संस्कार (Culture) देने की शिक्षा' अथवा 'ईश्वर का ज्ञान करानेवाली शिक्षा' की बातें करना व्यर्थ हैं।

५. इस प्रकार की शिक्षा खेतों में या गाँवों में ही दी जा सकती है। कस्बों अथवा शहरों में ऐसी शिक्षा मिल नहीं सकती।

६. अगर यह माना जाय कि पढ़ना-लिखना सीखने से पहले शिक्षा प्राप्त ही नहीं हो सकती, तो हिंदुस्तान की जनता को शिक्षित बनाने में बीसियों साल लग जायेगे।

७. किन्तु अक्षर-ज्ञान का (पढ़ने-लिखने के ज्ञान का) विरोध न करते हुए भी कहना चाहिए कि शिक्षा उसके बिना भी दी जा सकती है और देनी चाहिए।

८. लिखने-पढ़ने का ज्ञान न होने पर भी मनुष्य गिनती सीख सकता है, अपने उद्योग-धंधे के बारे में प्राथमिक विज्ञान की जानकारी प्राप्त कर सकता है, साहित्य समझ सकता है, सुन सकता है और कंठाग्र कर सकता है, तथा शक्तिशाली हो तो स्वयं साहित्य की सृष्टि भी कर सकता है। और यदि उसमें सत्य की लगन हो, तो वह ईश्वर का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है।

९. हमारे सैकड़ों शिक्षितों का ज्ञान-भंड़ार—अनेक पुस्तकें पढ़ जाने पर भी—इतना कम होता हैं कि इतना भंड़ार प्राप्त करने के लिए लाखों लोंगों से लिखना-पढ़ना सीखने

की सिरपच्ची में पड़ने को कहने के बदले यदि वे अपना ज्ञान उन्हें मौखिक रूप से दे, तो वे अनुभव करेंगे कि अपनी वर्षों की पढ़ाई का सार वे कुछ ही समय में जनता तक पहुँचा सकते हैं।

१०. दूसरे, भारतवर्ष की शिक्षा-पद्धति बिना खरचे की ही होनी चाहिए।

११. अतएव इस शिक्षा को कुछ ही वर्षों में समाप्त करने का मोह नहीं होना चाहिए। उद्योग करते-करते और आजीविका चलाते हुए यह शिक्षा जीवन भर चल सकती है।

१२. यह शिक्षा पुस्तकों पर कम-से-कम आधार रखनेवाली होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि पुस्तकें न हों, किन्तु वाचन की अपेक्षा यह शिक्षा श्रवण, दर्शन और क्रिया द्वारा अधिक दी जानी चाहिए।

४. उद्योग द्वारा शिक्षा

१. शिक्षा का श्रीगणेश अक्षर-ज्ञान से और लेखन-वाचन द्वारा नहीं, बल्कि उद्योग से और उद्योग द्वारा होना चाहिए।

२. उद्योग ऐसा हो कि जिस से जीविका चल सके। उद्योग से उत्पन्न होनेवाली वस्तु जनता के जीवन के लिए उपयोगी होनी चाहिए।

३. इस प्रकार की वस्तु का उत्पादन कराते हुए जहाँ तक संभव हो और जिस हद तक उन उद्योगों के साथ जुड़ा हुआ हो, उस हद तक साहित्य, गणित, विज्ञान, चित्रकला, इतिहास, भूगोल आदि अनेक आवश्यक विषयों का ज्ञान बालक को देना चाहिए। इस तरह उद्योग केवल शिक्षा का एक विषय ही नहीं, बल्कि लगभग समूची शिक्षा का अर्थात् मानव-विकास का वाहन भी बनना चाहिए।

४. जब तक इस प्रकार के उद्योग द्वारा चलनेवाली पाठशाला शिक्षकों का खर्च न निकाल सके, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उस पाठशाला ने और उसके विद्यार्थियों ने अच्छी प्रगति की हैं।

५. खेती और वस्त्र हिदुस्तान के राष्ट्रीय उद्योग हैं; इसलिए इन दोनों उद्योगों का प्राथमिक ज्ञान देने की सुविधा प्रत्येक पाठशाला में होनी चाहिए।

६. इन दो उद्योगों का प्राथमिक ज्ञान सबके लिए अनिवार्य होना चाहिए; क्यों कि जिसे इनसे जीविका नहीं चलानी है, उसके लिए भी समग्र शिक्षा की दृष्टि से यह ज्ञान महत्त्वपूर्ण हैं।

७. खेती और वस्त्र के उद्योगों की मदद में और उनके सहारे चलनेवाले धंधों में बढ़ईगीरी, लुहारी, रंगरेजी आदि के धंधे हैं। किसान और बुनकर को इनका भी साधारण ज्ञान देना चाहिए।

८. ईख, नील, तिलहन आदि की खेती और इसी प्रकार आस-पास के जंगलों में पाई जानेवाली वनस्पति अनेक प्रकार के उद्योगों का पोषण कर सकती है। इन उद्योगों की खोज़ करके, जहाँ अनुकूलता हो वहाँ इनको भी शिक्षा दी जानी चाहिए।

५. बाल-शिक्षा

१. बाल-शिक्षा का आरंभ अक्षर-ज्ञान से नहीं, बल्कि स्वच्छता की शिक्षा से होना चाहिए।

२. बालक का शिक्षक (बल्कि शिक्षिका) बालक को बारहखड़ी सिखाने की जल्दी न करेगा, बल्कि उसे अपने हाथ, पैर, नाक, आँख, दाँत, नाखून आदि को स्वच्छ रखना सिखायेगा। वह बालक को नहाना, कपड़े धोना और रूमाल से नाक आदि पोंछना भी सिखायेगा।

३. इसके बाद शिक्षक बालक के सामने तकली और चरखा रखेगा और उसे कताई तक की सब क्रियायें धीरज से सिखाकर उनमें बालक का हाथ जमा देगा।

४. दूसरे, बालक को लिखना-पढ़ना न आने तक वह उसे अज्ञान नहीं रखेगा; बल्कि कथा-कहानी द्वारा इतिहास-भूगोल का ज्ञान करायेगा, कथाओं और भजनों द्वारा धर्म का बोध करायेगा, प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा पदार्थविज्ञान का, वनस्पतियों का और भूमि तथा आकाश का ज्ञान देगा, प्रत्यक्ष पदार्थों की मदद से गणित का बोध करायेगा और इस प्रकार बालक को लिखना आने से पहले वह उसे हिन्दी की तीसरी-चौथी पुस्तक तक का ज्ञान दे चुका होगा।

५. अक्षर लिखाने से पहले शिक्षक बालक को चित्र और अक्षर के आकार निकालना तथा चित्रों द्वारा अपने विचार प्रकट करना सिखायेगा।

६. अनेक भजन, श्लोक, कवितायें कंठाग्र कराकर वह बालक के उच्चारण शुद्ध करायेगा और उसे नाना प्रकार का साहित्य कंठाग्र करा देगा।

७. फिर वह बालक को सुन्दर आकारवाले और स्पष्टतापूर्वक पढ़े जानेवाले अक्षर लिखना सिखायेगा। शिक्षक को यह अनुभव होगा कि इस प्रकार अक्षर-लेखन सिखाने में जो ढिलाई हुई है, उससे बालक को हानि नहीं हुई, बल्कि उसकी शक्ति बढ़ी है।

६. ग्रामवासी की शिक्षा

१. इस भ्रम का त्याग करना ज़रूरी है कि गाँवों के बड़ी उमरवाले सभी लोग अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने पर ही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

२. जिन में शक्ति और उत्साह हो, उनको अक्षर-ज्ञान देने का प्रयत्न करना इष्ट है। उनको प्रोत्साहित करना चाहिए और उनके लिए पर्याप्त सुविधा भी करनी चाहिए।

३. लेकिन यह कठिन है कि ज्यादातर लोगों को बड़ी उमर में लिखना-पढ़ना सीखने में दिलचस्पी रहे। इस बात की कोई मनाही नहीं होनी चाहिए कि ऐसे लोग प्रौढ़ों की रात्रिशालाओं में आकर बैठ ही न सकें।

४. गाँवों का पुस्तक-भंड़ार सीमित ही रहेगा और पुस्तकें खरीदने की ग्रामवासियों की शक्ति तो और भी अल्प रहेगी; अतएव अनुभव यह नहीं है कि थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना आ जानें से अपने-आप ज्ञान बढ़ाने की बहुत शक्ति आ जाती है।

५. इसलिए जो लोग शिक्षित हैं, वे अशिक्षितों को पढ़कर सुनायें और समझायें तथा उनके लिए व्याख्यानों आदि की व्यवस्था करें, तो गाँवों में शिक्षितों के लिए जिस हद तक अपना ज्ञान बढ़ाने की संभावना है, उतना ज्ञान अपढ़ लोग भी प्राप्त कर सकते हैं।

६. सिर्फ लिखना-पढ़ना आ जाने से ही समझ-शक्ति बढ़ जाती हो, सो बात नहीं; अकसर बुद्धिमान ग्रामवासी सुनकर जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह शिक्षित की तुलना में अधिक होता है।

७. ज्ञान का मूल स्रोत पुस्तकों में नहीं, बल्कि अवलोकन, अनुभव और विचार-शक्ति में है; इस बात को भूल जाने से हम पुस्तकों के ज्ञान पर ही अधिक जोर देने लगते हैं।

७. स्त्री-शिक्षा

१. पुरुष की तरह स्त्री को भी शिक्षा का पूरा अधिकार है। पुरुष को शिक्षा प्राप्त करने की जैसी अनुकूलता हो, वैसी स्त्री को भी होनी चाहिए।

२. यह संस्कार निर्मूल कर देना चाहिए कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्थान और अधिकार कम है।

३. स्त्री को पुरुष के समान शिक्षा प्राप्त करने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। फिर भी ९९ प्रतिशत स्त्रियों को मातृपद धारण करना हैं और घर के काम-धंधे संभालने हैं, इसे ध्यान में रखकर स्त्री-शिक्षा की योजना की जानी चाहिए।

४. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसान या बुनकर का धंधा न करनेवाले को भी ८५ प्रतिशत लोगों के धंधे का प्राथमिक ज्ञान होना चाहिए, उसी प्रकार जिसे मातृपद और घर नहीं संभालना है, उसे भी मातृपद और गृहिणी के कार्य से संबंध रखनेवाली शिक्षा दी जानी चाहिए।

८. धार्मिक शिक्षा

१. धार्मिक शिक्षा से रहित शिक्षा शिक्षा के नाम के योग्य ही नहीं मानी जा सकती।

२. प्रत्येक बालक को, वह स्वयं जिस धर्म में जन्मा है उस धर्म के मुख्य ग्रंथों, महापुरुषों और संतों तथा उस धर्म की मान्यताओं का ज्ञान श्रद्धापूर्वक देना चाहिए।

३. यहाँ धर्म से मतलब वैदिक, इस्लामी, खिस्ती, यहूदी, पारसी, सिख, जैन, बौद्ध आदि मुख्य धर्म ही समझना चाहिए; इनके संप्रदायों अथवा उपशाखाओं का समावेश इसमें नहीं होता। संप्रदायों अथवा उपशाखाओं के संस्कार उनकी मुख्य संस्थाएँ ही दे सकती हैं।

४. बालक के अपने धर्म के अलावा दूसरे महान धर्मों का भी साधारण ज्ञान उसे समभावपूर्वक देने का प्रयत्न करना चाहिए।

५. जिस प्रकार मनुष्य को शरीर के लिए आहार, श्रम और आराम की आवश्यकता होती हैं, उसी प्रकार उसके चित्त की उन्नति के लिए धर्म का आलम्बन आवश्यक है।

६. प्रत्येक धर्म ऐसा आलम्बन देने में समर्थ है, अतएव किसीको धर्मान्तर करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक धर्म मनुष्य-प्रचारित होने के कारण उसमें दोष है और नये-नये दोष खड़े होते रहते हैं। अतः उसे बार-बार शुद्ध करने की ज़रूरत होती हैं; फिर भी कोई धर्म सर्वथा त्याज्य नहीं होता। धार्मिक शिक्षा के परिणाम-स्वरूप इस तरह के संस्कार निर्माण हों ऐसी दृष्टि रखी जानी चाहिए।

७. भिन्न-भिन्न मानव-समाज में भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति हुई हैं, अतएव उनमें समाज-रचना के, विधियों के और रूढ़ियों के परस्पर विरोधी मालूम होनेवाले भेदों के रहते हुए भी प्रत्येक धर्म में सत्यरूपी परमेश्वर की शोध और उसका आलम्बन, नीति-परायण तथा संयभी जीवन और दूसरों के लिए खपने की तथा स्वार्थ की तुलना में दूसरों के हित की चिंता रखने की वृत्ति ये धार्मिक जीवन के सामान्य अंग हैं। इन संस्कारों का निरंतर विशाल क्षेत्र में विकास ही धार्मिक जीवन का विकास हैं। अतएव धार्मिक शिक्षा में इन अंगों का महत्त्व समझाकर बाह्य भेदों को गौण समझने की शिक्षा दी जानी चाहिए।

९. शिक्षा का माध्यम

१. उच्च से उच्च शिक्षा तक स्वभाषा ही शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए।

२. अंग्रेजी के समान अत्यन्त विजातीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर शिक्षा पर किया गया और किया जानेवाला बहुतसा परिश्रम व्यर्थ हुआ है और हो रहा है।

३. अंग्रेजी के ज्ञान के बिना उच्च शिक्षा प्राप्त की ही नहीं जा सकती, यह स्थिति दयाजनक और लज्जाजनक है।

४. शिक्षा घरों और गाँवों तक नहीं पहुँच सकी, इसका एक कारण यह भी है कि वह स्वभाषा द्वारा सुलभ नहीं रही।

५. शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा का उपयोग करने से देश की भाषायें समृद्ध नहीं बन सकी; और शिक्षितों की स्वभाषा-सेवा यानी अंग्रेजी में सोचे गये विचारों का संस्कृत अथवा फारसी में अनुवाद करके स्वभाषा के प्रत्यय लगाकर उनका उपयोग लगभग ऐसा परिणाम आया है। इसके कारण ऐसा साहित्य आम लोगों तक बहुत पहुँच नहीं सका और उन पर प्रभाव भी नहीं डाल सका।

६. परभाषा के माध्यम का एक भारी दुष्परिणाम यह हुआ है कि बहुतेरे शिक्षित लोग विचार भी अंग्रेजी में ही कर सकते हैं, स्वभाषा में कर ही नहीं सकते। यह स्थिति खदेजनक है।

७. गुजरात विद्यापीठ के समान छोटी संस्था में भी गुजराती को शिक्षा का माध्यम बना देने से गुजराती भाषा कितनी अधिक समुद्ध हुई है, इसका पता पिछले कुछ वर्षों के साहित्य के इतिहास से चलता है।

८. लोकमान्यने मराठी भाषा द्वारा ही अपने प्रान्त की सेवा की थीं। उसके परिणाम-स्वरूप मराठी भाषा जितनी समृद्ध बनी, वह भी इसी बात का प्रमाण है।

१०. अंगेजी भाषा

१. इस भ्रम से मुक्त होना आवश्यक है कि अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना शिक्षा अपूर्ण ही मानी जाती है।

२. अंग्रेजी पढ़े हुओं का कर्तव्य है कि अंग्रेजी भाषा के विशाल साहित्य में से सुन्दर रत्नों को चुन-चुन कर वे उनका अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद करें। इन रत्नों का आनंद लूटने के लिए देश के करोड़ों लोगों को अंग्रेजी भाषा सीखने की परेशानी में डालना क्रूरता है।

३. यह सच है कि व्यवहार में अंग्रेजी भाषा की ज़रूरत पड़ती है; किन्तु ऐसा व्यवहार तो मुट्ठीभर लोगों को ही करना पड़ता है। फिर इस प्रकार का अधिकांश व्यवहार तो बिना कारण अथवा हमारी दासता के कारण ही अंग्रेजी में होता है। थोड़े अंग्रेज अधिकारियों को देश की भाषा सीखने की मेहनत न करनी पड़े, इसके लिए समूची जनता पर अंग्रेजी सीखने का भार डालना, यह भी देश की ओर से ब्रिटिश सरकार को दिया जानेवाला एक प्रकार का भारी (सूक्ष्म) कर ही है।

४. अंग्रेजी भाषा को अनिवार्य करके ब्रिटिश सरकार ने अपनी बुनियाद मजबूत बनाई है और भाषा की गुलामी मंजूर करवा कर जनता को शरीर से ही नहीं, बल्कि मन से भी गुलाम बनाया है। हथियार छीन लेने से जनता को जितनी हानि हुई है उतनी ही, अथवा उससे कुछ अधिक ही हानि अंग्रेजी को लादने से हुई है।

५. अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना देश के महत्त्वपूर्ण कारबार में हाथ नहीं बँटाया जा सकता; इस प्रकार अंग्रेजी की जो शिक्षा अनिवार्य बनाई गई, वह शिक्षा-शास्त्र और राजनीति दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक रही है।

६. यदि यह मानें कि यूरोप की विद्या सीखने के लिए यूरोप की किसी भाषा का ज्ञान आवश्यक है, तो उतने उपयोग के लिए उसका जितना ज्ञान ज़रूरी है, उसके लिए आज क जितने वर्ष और समय खर्च करना आवश्यक नहीं। इस प्रकार के भाषा-ज्ञान का ध्येय

उस भाषा को समझने की योग्यता प्राप्त करने तक ही सीमित हो सकता है। आज तो अंग्रेजी भाषा मानो हमारी मातृभाषा हो अथवा उससे भी अधिक महत्त्व की हो, इस प्रकार उसके लेखन और उच्चारण पर प्रभुत्व प्राप्त करने के व्यर्थ प्रयत्न किये जाते हैं; और कई-कई वर्षों तक परिश्रम करने के बाद भी अधिकांश लोग तो उस पर टूटा-फूटा प्रभुत्व ही प्राप्त कर पाते है ।

७. हम मातृभाषा को अथवा पड़ोस क प्रान्त की भाषा को शुद्ध रीति से बोल अथवा लिख न सकें, तो उससे हम शरमाते नहीं; और अंग्रेजी भाषा में होनेवाली भूलों से शरमाते हैं अथवा वैसी भूल करनेवाले का मजाक उड़ात हैं | इससे पता चलता है कि उस भाषा ने हम पर कितना जादू किया है। असल में, अंग्रेजी एक अत्यंत विजातीय भाषा है, इसलिए उसके उच्चारण और लेखन में हम से दोष हों, तो इसमें आश्चर्य की काई बात नहीं।

८. लेकिन इस जादू के कारण हम अपने शिक्षा-काल के आधे से अधिक वर्ष इस भाषा पर प्रभुत्व प्राप्त करने में खर्च करते हैं। विद्यार्थी के न जाने कितने श्रम और समय का इस प्रकार दुर्व्यय होता है ।

११. भाषा-ज्ञान

१. व्यवस्थित शिक्षा की योजना में भाषा के विषयों में सबसे पहला स्थान मातृभाषा को मिलना चाहिए। मातृभाषा में शुद्ध-शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलना आये बिना अंग्रेजी के समान अत्यन्त विजातीय भाषा की शिक्षा शुरू होनी ही न चाहिए।

२. मातृभाषा के बाद दूसरा स्थान राष्ट्रभाषा का है। राष्ट्रभाषा का मतलब है हिन्दुस्तानी। इसके बारे में आगे अधिक लिखा जायेगा।

३. तीसरा स्थान मूल भाषा का होना चाहिए; अर्थात् हिन्दू विद्यार्थियों के लिए संस्कृत, मुसलमान विद्यार्थियों के लिए अरबी अथवा फारसी, पारसियों के लिए पहलवी आदि-आदि। चूँकि मातृभाषा और स्वधर्म मूल में ये भाषायें बैठी हैं, इसलिए इनका ज्ञान महत्त्वपूर्ण है, और सही शिक्षा प्राप्त मनुष्य को इनका साधारण अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

४. जिन में भाषा सीखने की शक्ति और रुचि है, उन्हें हिन्दुस्तान की कुछ प्रान्तीय भाषायें अवश्य सीखनी चाहिए। विशेष करके द्राविडी भाषाओं में से एकाध सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। और संस्कृत-मूलक भाषाओं में से भी एकाध तो सीखनी ही चाहिए।

५. शिक्षा की दृष्टि से अंग्रेजी का स्थान इसके बाद आता है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उसका मूल्य अधिक माना गया है; फिर भी मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और मूल भाषा के बाद ही उसका स्थान हो सकता है।

१२. राष्ट्रभाषा

१. हिन्दुस्तानी—अर्थात् हिन्दी और उर्दू दोनों के मिश्रण से बनी दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग जैसे नगरों में आम लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा है। दक्षिण भारत की जनता के अलावा साधारणतः यह समूचे देश में सैकड़ों सालों से बोली जाती रही हैं।

२. शिक्षित मनुष्य को यह भाषा शुद्ध रीति से बोलते, लिखते और पढ़ते आनी चाहिए।

३. यह भाषा नागरी तथा उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाती हैं; प्रत्येक के लिए दोनों लिपियों का ज्ञान इष्ट हैं।

४. राष्ट्रभाषा का सूचन प्रान्तीय भाषा को गौण बनाने के लिए नहीं है, बल्कि समूचे देश के व्यवहार के लिए है। राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्थान नये सिरे से खड़ा नहीं किया गया है, बल्कि जो व्यवहार में है उसको स्वीकार किया गया है।

१३. इतिहास

१. इतिहास का विषय झूठे उद्देश्य से और झूठे दृष्टिकोण से सिखाया जाता है। इसके कारण इतिहास के रूप में सिखाई जानेवाली घटनाएँ चाहे सच हो, फिर भी उनसे राष्ट्रों की भूतकाल की स्थिति की ग़लत जानकारी मिलती है।

२. राजवंशों की उलट-पलट और युद्धों के वर्णन राष्ट्र का इतिहास नहीं; हिन्दुस्तान के समान राष्ट्र का तो कदापि नहीं। वह तो राष्ट्र-शरीर पर कभी-कभी उठे हुए फोड़ों के इतिहास-जैसा माना जायेगा। लोक-जीवन में युद्ध नित्य की वस्तु नहीं, बल्कि उल्कापात हैं। जनता के नित्य जीवन में समझाइश, भाईचारा, परस्पर खपना-खटना और सहयोग पाया जाता है। इन सबके द्वारा समाज की जो प्रगति होती है, उसका वर्णन इतिहास बहुत गौण रूप से करता है, इसी लिए वह भूतकाल के बारे में भ्रमपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

३. यदि इस प्रकार इतिहास की छानबीन की जाय, तो पता चलेगा कि उसके नित्य व्यवहार में हिंसापूर्ण कलह की अपेक्षा अहिंसापूर्ण सत्याग्रह का प्रयोग अधिक हुआ है।

४. किन्तु इतिहास की शिक्षा में केवल यही एक दोष नहीं है। आजकल तो इतिहास की शिक्षा जानबूझकर इस प्रकार दी जाती है कि जिस से मिथ्याभास उत्पन्न हो; फलत: अंग्रेजों के आने से पहले के काल का बड़ा अप्रिय चित्र खड़ा किया जाता है, और बचपन से ही ऐसी युक्ति की जाती है कि जिस से जनता अंग्रेजी राज्य के प्रति मोहवश और मूर्च्छावश बनी रहे। इसमें असत्य ही नहीं, बल्कि अप्रामाणिकता भी है।

१४. शिक्षा के अन्य विषय

१. हिन्दुस्तान में संगीत की शिक्षा पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। संगीत चित्त के भावों को जाग्रत करने का एक बहुत बड़ा साधन है, और इस प्रकार सात्विक संगीत आध्यात्मिक विकास में महत्त्व का योगदान करता है । बालक की इस महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक शक्ति का विकास सात्विक रीति से किया जाना चाहिए।

२. कर्मेन्द्रियों के और समूहों के कार्यों में कवायद के ज्ञान के अभाव में अव्यवस्था, आवश्यकता से अधिक शक्ति का व्यय, गड़बड़, हो-हल्ला और अकसर जान-माल की बरबादी भी होती है। कवायद के ढंग से ही उठने, चलने और काम करने की, और जहाँ चार आदमी इकट्ठा हों वहाँ कवायद के ढंग से ही व्यवस्थित होकर काम में लग जाने की आदत पड़नी चाहिए। अतएव पाठशालाओं में कवायद की शिक्षा पर अच्छी तरह ध्यान दिया जाना चाहिए और बडों को भी उसकी तालीम देनी चाहिए।

३. हिन्दुस्तान में शस्त्रों का त्याग जबरदस्ती से कराया गया है। हिन्दुस्तान की जनताने उन्हें स्वेच्छा से नहीं छोड़ा है। शस्त्र-धारण करने और सैनिक शिक्षा पाने का जनता को अधिकार है। इसलिए इसकी तालीम भी शिक्षा का एक आवश्यक विषय है।

१५. शिक्षक

१. यह विचार दोषपूर्ण है कि शिक्षक का चरित्र कैसा भी क्यों न हो, उसे केवल अपने विषय में प्रवीण होना चाहिए।

२. एक चरित्रहीन किन्तु प्रवीण शिक्षक की अधीनता में सीखकर विद्यार्थी के एकाध विषय में प्रवीणता प्राप्त करने की अपेक्षा हजार गुना अधिक अच्छा यह है कि वह चरित्रवान किन्तु कम प्रवीण शिक्षक के अधीन रहकर थोड़ी कम विद्या पड़े।

३. जो शिक्षक अपनी जिम्मेदारी केवल विषय सिखाने की समझता है, पर विद्यार्थी के चरित्र के बारे में अपने को जिम्मेदार नहीं मानता, वह क्षिशक कहा ही नहीं जा सकता।

४. आदर्श शिक्षक विद्यार्थी के अभ्यास में ही नहीं, बल्कि उसके समूचे जीवन में रस लेता है और उसके हृदय में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है।

५. ऐसा शिक्षक विद्यार्थी को भयानक अथवा यम-जैसा प्रतीत नहीं होगा, बल्कि पूज्य होते हुए भी अपनी माता से अधिक निकट मालूम होगा।

६. शिक्षक को हमेशा अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए; और अपने विषयों की ताजी-से-ताजी जानकारी इकट्ठा करके तैयार होकर ही कक्षा को पढ़ाना चाहिए।

७. तात्पर्य यह कि शिक्षक को विद्यार्थी से भी अधिक अच्छा विद्यार्थी-जीवन बिताना चाहिए और अध्ययन-मग्न रहना चाहिए।

८. बिना ठीक तैयारी के कक्षा को पढ़ानेवाला शिक्षक विद्यार्थियों का अमूल्य समय नष्ट करता है।

९. शिक्षक को चाहिए कि वह सिखाने की अच्छी-से-अच्छी रीतियाँ खोज़ता ही रहे और हरएक विद्यार्थी की विशेषता का पता लगाकर उसे ऐसे उपाय खोजने चाहिए, जिस से विद्यार्थी को उसका विषय समझ में आये और उसमें रस उत्पन्न हो; और विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने का अवसर देकर उनका समाधान करना चाहिए।

१०. मारना-पीटना, गाली देना, तिरस्कार करना अथवा दूसरी कोई सजा देना शिक्षकों के लिए निषिद्ध होना चाहिए।

११. यह तो स्पष्ट ही है कि अच्छी तरह काम करने की इच्छा रखनेवाला शिक्षक बहुत बड़ी-बड़ी कक्षाओं पर पूरा ध्यान नहीं दे सकता।

१२. सैकड़ों विद्यार्थियों की पाठशालायें भी इष्ट नहीं मानी जा सकतीं।

१६. विद्यार्थी

१. यही नहीं कि विद्या विनय से शोभा देती है, बल्कि बिना विनय के वह प्राप्त भी नहीं होती।

२. विद्यार्थी को शिक्षक के प्रति गुरुभाव से अर्थात् श्रद्धा, विनय और सेवावृत्ति से बरतना चाहिए। उसे यह श्रद्धा रखनी चाहिए कि शिक्षक जो कहता है, उसमें उसका हित ही है।

३. यदि यह विश्वास हो जाये कि शिक्षक इस प्रकार की श्रद्धा के योग्य नहीं है, तो विनय का त्याग न करते हुए शिक्षक का ही त्याग करना चाहिए।

४. विद्यार्थी को शिक्षक से प्रश्न पूछकर अपनी शंकायें दूर करनी चाहिए।

५. विद्यार्थी को ऐसी अधीरता का परिचय नहीं देना चाहिय, मानो वह शिक्षक से उसके पास का सारा ज्ञान ले लेना चाहता हो। जो अपने विनय द्वारा शिक्षक के मन को प्रसन्न कर लेता है, उसे अपने पास का समस्त ज्ञान दे देने की अधीरता शिक्षक में ही उत्पन्न होती है; जब तक शिक्षक के मन में यह भाव न उठे तब तक विद्यार्थी को धीरज रखना चाहिए।

६. किन्तु जब शिक्षक ज्ञान की वर्षा करने लगे, उस समय विद्यार्थी को प्रमादी बनकर प्राप्त अवसर खोना नहीं चाहिए।

१७. छात्रावास

१. छात्रावास का अर्थ विद्यार्थी के लिए निवास और भोजन की सुविधा कर देनेवाला होटल नहीं।

२. छात्रावास का महत्त्व विद्यालय से भी अधिक है। वह तो माता-पिता के घर का स्थानापन्न होना चाहिए; यही नहीं, बल्कि जो संस्कार माता-पिता के घर में नहीं मिल सकते, वे विद्यार्थी को देने की अभिलाषा उसे रखनी चाहिए।

३. इस कारण विद्यालय के आचार्य अथवा कक्षा-शिक्षक की अपेक्षा छात्रावास का गृहपति अधिक योग्य होना चाहिए। उसमें शिक्षक के अतिरिक्त माता-पिता के गुण होने चाहिए।

४. उसकी दृष्टि विद्यार्थियों के प्रत्येक कार्य पर और साथीसगातियो पर बराबर घूमती रहनी चाहिए।

५. जहाँ लड़के इकट्ठा रहते हैं, वहाँ कुछ प्रकट तथा गुप्त दोष भी सामने आते रहते हैं। गृहपति को इनके बारे में बहुत ही जागरूक रहना चाहिए।

६. छात्रावास में पंक्तिभेद नहीं होना चाहिए।

७. जहाँ तक सम्भव हो छात्रावास में नौकर-चाकर नहीं रखे जाने चाहिए; और अपने निजी काम तो विद्यार्थियों को खुद ही करने चाहिए।

८. छात्रावास का खर्च ग़रीब देश को पुसाने लायक ही होना चाहिए।

९. विद्यार्थियों को नियमित रीति से मिष्टान्न खिलाने की प्रथा इष्ट नहीं।

१०. छात्रावास सादगी, किफायत और संस्कारिता का दर्शन करानेवाला होना चाहिए। यदि छात्रावास में रहकर विद्यार्थी अधिक शौकीन, खर्चीला और उच्छृंखल बने, तो कहना चाहिए कि वह छात्रावास सफलता प्राप्त नहीं करता।

१८. शिक्षा का खर्च

१. आज की शिक्षा बहुत खर्चीली बन गई है। इससे पता चलता है कि शिक्षा की दिशा ग़लत है।

२. शिक्षा की सारी व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि जिस से शिक्षक और विद्यार्थी अपने अन्न-वस्त्र का खर्च तो अपनी मजदूरी से ही प्राप्त कर सकें। केवल मकानों, साधनों आदि के लिए ही जनता से खर्च मांगने की आवश्यकता रहनी चाहिए।

३. आज ऐसा हो नहीं सकता, क्यों कि शिक्षक और विद्यार्थी दोनों मेहनत करने के लिए पूरी तरह तैयार और अभ्यस्त नहीं हैं । किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रयत्न इसी दिशा में होना चाहिए।

४. बालक जितनी शिक्षा अपने घर में ही प्राप्त कर लेगा, पाठशाला के समय, शक्ति और साधनों की उतनी ही बचत होगी। मतलब यह कि माता-पिता को संस्कारी बनाने से शिक्षा का खर्च घटेगा।

५. प्राथमिक कही जानेवाली शिक्षा इस प्रकार अधिकतर घरों में ही प्राप्त हो जानी चाहिए।

१९. उपसंहार

(पूज्य गांधीजी ने 'सत्याग्रह आश्रम का इतिहास' के नाम से जो पुस्तक लिखनी शुरू की थी, उसमें शिक्षा-सम्बन्धी अध्याय में उन्होंने अपने विचारों का उपसंहार नीचे लिखे अनुसार किया है। इस खंड में मैं उसको जोड़ रहा हूँ। गांधीजी की पांडुलिपिवाली भाषा में और नीचे दी जानेवाली भाषा में जो थोड़ा अन्तर है, वह इस पुस्तक को सुधारते समय गांधीजी ने ही किया है। वैसे इसमें दिये गये विचार दूसरे प्रकरणों में इस या उस रूप में आ ही चुके हैं। **-कि. ध. म.)**

शिक्षा-सम्बन्धी मेरी मान्यता नीचे लिखे अनुसार है।

प्रथम काल

१. बालकों और बालिकाओं को एक साथ शिक्षा देनी चाहिए। यह बाल्यावस्था आठ वर्ष तक मानी जाय।

२. उनका समय मुख्यतः शारीरिक काम में बीतना चाहिए और यह काम भी शिक्षक की देखरेख में होना चाहिए। शारीरिक काम को शिक्षा का अंग माना जाना चाहिए।

३. प्रत्येक बालक और बालिका की रुचि को पहचानकर उसे वैसा काम सौंपना चाहिए।

४. हरएक काम लेते समय कार्य के कारण की जानकारी करानी चाहिए।

५. जब से बालक या बालिका समझने लगे, तभी से उसे सामान्य ज्ञान देना चाहिए। यह ज्ञान अक्षर-ज्ञान से पहले शुरू होना चाहिए।

६. अक्षर-ज्ञान का लेखन (चित्र) कला का अंग समझकर पहले बालक को भूमिति की आकृतियाँ खींचना सिखाया जाय; और अपनी अंगुलियों पर उसका काबू हो जाय, तब उसे वर्णमाला लिखना सिखाया जाय। अर्थात् उसे शुरू से ही शुद्ध अक्षर लिखना सिखाया जाय।

७. लिखने से पहले बालक पढ़ना सीखे। अर्थात् अक्षरों को चित्र समझकर उन्हें पहचानना सीखे और फिर चित्र खींचे।

८. इस तरह जो बालक शिक्षक के मुँह से ज्ञान पायेगा, वह आठ वर्ष के भीतर अपनी शक्ति के अनुसार काफी ज्ञान पा लेगा।

९. बालकों को जबरन् कुछ न सिखाया जाय।

१०. वे जो सीखें उसमें उन्हें रस आना ही चाहिए।

११. बालकों को शिक्षा खेल जैसी लगनी चाहिए। खेल-कूद भी शिक्षा का आवश्यक अंग है।

१२. बालकों की सारी शिक्षा मातृभाषा द्वारा होनी चाहिए।

१३. बालकों को हिन्दी-उर्दू का ज्ञान राष्ट्रभाषा के तौर पर दिया जाना चाहिए। उसका आरम्भ अक्षर-ज्ञान से पहले होना चाहिए।

१४. धार्मिक शिक्षा ज़रूरी मानी जाय। वह पुस्तक द्वारा नहीं, बल्कि शिक्षक के आचरण और उसके मुँह से बालक को मिलनी चाहिए।

दूसरा काल

१५. नौ से सोलह वर्ष का दूसरा काल है।

१६. दूसरे काल में भी अन्त तक बालक-बालिकाओं की शिक्षा साथ-साथ हो तो अच्छा हो।

१७. दूसरे काल में हिन्दू बालक को संस्कृत का और मुसलमान बालक को अरबी का ज्ञान मिलना चाहिए।

१८. इस काल में भी शारीरिक काम तो चालू ही रहे। पढ़ाई का समय ज़रूरत के अनुसार बढ़ाया जाना चाहिए।

१९. इस काल में माता-पिता का धंधा यदि निश्चित हुआ जान पडे, तो बच्चे को उसी धंधे का ज्ञान मिलना चाहिए; और उसे इस तरह तैयार किया जाय कि वह अपने बाप-दादा के धंधे से जीविका चलाना पसन्द करे। यह नियम बालिका पर लागू नहीं होता।

२०. सोलह वर्ष तक बालक-बालिकाओं को दुनिया के इतिहास और भूगोल का तथा वनस्पति-शास्त्र, खगोल-विद्या, गणित, भूमिति और बीजगणित का साधारण ज्ञान हो जाना चाहिए।

२१. सोलह वर्ष के बालक-बालिका को सीना-पिरोना और रसोई बनाना आ जाना चाहिए।

तीसरा काल

२२. सोलह से पचीस वर्ष के समय को मैं तीसरा काल मानता हूँ। इस काल में प्रत्येक युवक और युवती को उसकी इच्छा और स्थिति के अनुसार : शिक्षा मिले।

२३. नौ वर्ष के बाद आरंभ होनेवाली शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। यानी विद्यार्थी पढ़ते हुए ऐसे उद्योगों में लगे रहें, जिनकी आमदनी से शाला का खर्च चले !

२४. शाला में आमदनी तो पहले से ही होनी चाहिए। किन्तु शुरू के वर्षों में खर्च पूरा होने लायक आमदनी नहीं होगी।

२५. शिक्षकों को बड़ी-बड़ी तनखाहें नहीं मिल सकती, किन्तु वे जीविका चलाने लायक तो होनी ही चाहिए। शिक्षकों में सेवाभावना होनी चाहिए। प्राथमिक शिक्षा के लिए कैसे भी शिक्षक से काम चलाने का रिवाज निन्दनीय है। सभी शिक्षक चरित्रवान होने चाहिए।

२६. शिक्षा के लिए बड़ी-बड़ी और खर्चीली इमारतों की ज़रूरत नहीं है।

२७. अंग्रेजी का अभ्यास भाषा के रूप में ही हो सकता है और उसे पाठचक्रम में जगह मिलनी चाहिए। जैसे हिन्दी राष्ट्रभाषा है, वैसे ही अंग्रेजी का उपयोग दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यवहार और व्यापार के लिए है |

स्त्री-शिक्षा[१]

२८. स्त्रियों की विशेष शिक्षा कैसी हो और कहाँ से शुरू हो, इस विषय में यद्यपि मैंने सोचा और लिखा तो है, फिर भी इस बारे में मैं किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सका हूँ। लेकिन मेरा यह दृढ़ मत है कि जितनी सुविधा पुरुष को मिलती है, उतनी ही स्त्री को भी मिलनी चाहिए। और जहाँ विशेष सुविधा की ज़रूरत हो वहाँ विशेष सुषिधा भी मिलनी चाहिए।

---

१. कंड़िका २८, और २९ गांधीजी ने उपसंहार के क्रम में लिखी नहीं हैं, किन्तु उसी प्रकरण में स्वतंत्र रूप से दी हैं। इसलिए इन कंड़िकाओं की संख्या कोष्ठक में दी गई हैं।

प्रौढ़-शिक्षा

२९. प्रौढ़ आयुवाले निरक्षर स्त्री-पुरुषों के लिए वर्गों की ज़रूरत है ही। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता कि उन्हें अक्षर-ज्ञान होना ही चाहिए। उनके लिए भाषणों आदि के जरिये साधारण ज्ञान मिलने की सुविधा होनी चाहिए; और जिसे पढ़ना-लिखना सीखने की इच्छा हो, उसके लिए उसकी पूरी सुविधा होनी चाहिए ।

खण्ड बारहवाँ: साहित्य और कला

१. साधारण टीका

१. साहित्य और कला को सत्य, हितकर और उपयोगिता की कसौटी पर खरा उतरना ही चाहिए।

२. यहाँ सत्य को उसके विशाल अर्थ में समझना चाहिए। ब्योरों अथवा घटनाओं की सत्यता के अर्थ में नहीं, बल्कि सिद्धांत अथवा आदर्श की सत्यता के अर्थ में। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि हरिश्चन्द्र अथवा राम की कथा केवल काल्पनिक हो। किन्तु उस कथा से निकलनेवाले सिद्धांत और आदर्श सत्य, हितकर और उपयोगी हैं; इसलिए उस कथा का साहित्य उक्त कसौटी पर खरा उतरता है।

३. घटनाएँ और वर्णन सत्य और हूबहू चित्र खड़ा करनेवाले हों, तो भी केवल इसी कारण से यह नहीं कहा जा सकता कि वे योग्य प्रकार के साहित्य और कला के नमूने हैं। बहुतेरी घटनाएँ सत्य होने पर भी अहितकारी और निरुपयोगी अथवा हानिकारक होती हैं। उन्हें प्रस्तुत करनेवाला साहित्य और कला दोनों हानिकारक ही हैं। उदाहरण के लिए, वेश्या के घर का चित्र।

४. प्राय : सत्य, नीति, धर्म इत्यादि की अन्त में जय दिखाने पर भी इनसे पहले असत्य, अनीति, अधर्म आदि का चित्र इतनी बीभत्स रीति से चित्रित किया जाता है कि उससे जनता की हीन वृत्तियाँ उत्तेजित होती हैं। इस प्रकार का साहित्य और कला भी गंदी ही मानी जायेगी।

२. साहित्य की शैली

१. सच है कि कुछ साहित्य विद्वान और वैसी परम्परा में पल हुए लोग ही समझ सकें इस प्रकार का होता है, फिर भा वह उत्कृष्ट होता है; किन्तु साधारणत : इसे साहित्य का गुण नहीं, बल्कि उसकी कमी मानना चाहिए | कोई विशेष कारण न हो, तो साहित्यकार का प्रयत्न यही रहना चाहिए कि उत्कृष्ट होते हुए भी साहित्य की भाषा ऐसी हो जिसे जनसाधारण समझ सकें।

२. इसमें कुछ अपवाद हो सकते हैं। उनमें से कुछ नीचे लिखे अनुसार हैं :

(क) हो सकता है कि भाषा सरल और आसान होने पर भी विषय नया, असाधारण, कठिन और गंभीर विचारवाला हो और इसके फलस्वरूप ऐसे साहित्य को साधारण लोग दूसरों को सहायता के बिना समझ न सकें। उदाहरण के लिए, गीता। कहा जा सकता है कि उसकी शैली इतनी सरल है कि मामूली संस्कृत पढ़ा हुआ आदमी भाषा की दृष्टि से गीता को समझ सकता है; फिर भी साधारण लोग संस्कृत जानते हुए भी उसका तात्पर्य न समझ सकें और उन्हें विद्वानों की टीकाओं का सहारा लेना पड़े; क्यों कि उसका विषय कठिन और गंभीर विचारवाला है, जो केवल भाषा-ज्ञान से समझा नहीं जा सकता।

(ख) इसी प्रकार जिन शास्त्रीय ग्रंथों में विशिष्ट परिभाषा का उपयोग किया गया हो, उन्हें साधारण लोग नहीं समझ सके, तो वह उन ग्रंथों का दोष नहीं माना जायेगा। जैसे, तर्कशास्त्र, कानून अथवा वैद्यक की पुस्तकें।

(ग) मनोरंजन के लिए रची गई पहलियाँ, कहावतें, कबीर जैसों के गुढ़ काव्य, उलट बासियाँ आदि के अर्थ बहुत-कुछ परम्परा से ही जाने जा सकत हैं। इस प्रकार का साहित्य अल्प प्रमाण में और ज्ञानदायक तथा निर्दोष हो, तो कोई उसका विरोध नहीं करेगा।

३. पहले दो प्रकार के अपवादों में सूचित साहित्य में से जितना आम लोगों के लिए आवश्यक और उपयोगी हो, उतना सरल भाषा में प्रस्तुत करना यह भी उन-उन विषयों के निष्णात लोगों का एक कर्तव्य है।

३. अनुवाद

१. दूसरी भाषा के उत्कृष्ट साहित्य का परिचय अपनी भाषा के लोगों को कराना भी साहित्य का एक उपयोगी अंग है।

२. अच्छे अनुवाद में नीचे लिखे गुण होने चाहिए:

(क) वह इतना सरल और सहज होना चाहिए, मानो मातृभाषा में ही सोचा और लिखा गया हो। वह ऐसा न होना चाहिए कि जिस भाषा से अनुवाद किया गया हो, उस भाषा के रूढ़ प्रयोगों और शब्दों के विशेष अर्थ न जाननेवाले उसे समझ न सकें।

(ख) यदि अनुवाद में ऐसे रूढ़ प्रयोग देने ही पड़े, अथवा मूल शब्द का भाव स्पष्ट करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग करना पड़े और मातृभाषा के बोलनेवाले जिन दृष्टांतों, रूपकों अथवा दन्तकथाओं से अपरिचित हों उनका उल्लेख करना पड़े, तो उन्हें समझाने के लिए आवश्यक टिप्पणियाँ दी जानी चाहिए।

ग) अनूदित रचना ऐसी लगनी चाहिए, मानो अनुवादक ने मूल पुस्तक को पीकर और पचाकर नये सिरे से अपनी मातृभाषा में रची हो

घ) मूल पुस्तक जिन विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध हुई हो और उत्कृष्ट मानी गई हो, यदि अनुवाद में उसके वे गुण प्रकट न हों, तो वह अनुवाद घटिया कोटि का ही माना जायेगा।

(च) साधारणत: अनुवाद इतना प्रामाणिक होना चाहिए कि मूल पुस्तक के बदले उसका हवाला दिया जा सके।

३. इस कारण स्वतंत्र पुस्तक की तुलना में अनुवाद का काम सदा सरल नहीं होता। मूललेखक के साथ जो पूरी तरह तन्मय और एकरस न हो सके और उसके मनोभावों को ग्रहण न कर सके, उसे अनुवाद नहीं करना चाहिए।

४. अनुवाद करने में विविध प्रकार के विवेक का उपयोग करना चाहिए : कुछ पुस्तकों का अनुवाद अक्षरश : करना आवश्यक माना जाता है; कुछ का केवल सार दे देना

पर्याप्त होता है; कुछ पुस्तकों के अनुवाद रूपांतर के रूप में ही करने चाहिए, जिस से हमारा समाज उन्हें समझ सके; कुछ पुस्तकें उस-उस भाषा में उत्कृष्ट मानी जाती हों, फिर भी चूँकि हमारा समाज अतिशय भिन्न प्रकार का है, इसलिए ऐसी पुस्तकों के अनुवाद मातृभाषा में करना आवश्यक ही नहीं होता; और कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं कि जिनके अक्षरश : अनुवाद के अलावा साररूप अनुवाद भी आवश्यक माना जाता है।

४. हिज्जे

१. गुजराती भाषा में हिज्जों के बारे में जो अराजकता पाई जाती है, वह इष्ट नहीं है।

२. यह बात समझमें आ सकती है कि भाषा की वृद्धि के साथ व्याकरण और हिज्जों के नियम थोड़े-बहुत बदलते रहें; फिर भी नित्य के व्यवहार के शब्दों और उनके रूपों के विषय में व्याकरण तथा हिज्जों सम्बन्धी नियम निश्चित हो जाने चाहिए।

३. प्रत्येक भाषा में कुछ बिरले शब्द ऐसे होते हैं, जिनके हिज्जों के बारे में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है; किन्तु साधारण बच्चों के विषय में विद्वानों को चाहिए कि वे जनता के लिए एक ही प्रकार के हिज्जों की सिफारिश करें।

४. इस प्रकार की सिफारिश करते समय वर्तमान रूढ़ि, लिखने और छापने की सुविधा, उच्चारण, व्याकरण के नियम और व्युत्पत्ति इन सब बातों पर यथोचित ध्यान देना चाहिए; और किसी स्थान पर इसे तो किसी दूसरे स्थान पर उसे महत्त्व देने की आवश्यकता समझनी चाहिए। दृष्टि यह रखनी चाहिए कि हिज्जों के बारे में आम जनता परेशान न हो।

५. इस दृष्टि से गूजरात विद्यापीठ ने हिज्जों के नियम निश्चित करके 'जोडणी कोश' के नाम से एक कोश की रचना का प्रयत्न किया है और उसे दूसरी भी कई संस्थाओं ने मान्यता दी हैं। जनसाधारण को उसीका अनुसरण करने की सलाह है; और उसमें जो दोष रह गये हों, उनके लिए विद्वानों से विनती है कि वे उन्हें दूर करें।

५. समाचारपत्र

१. समाचार-पत्र, मासिक आदि भी साहित्यिक कार्य के अंग है। जनसाधारण को शिक्षित करने का यह एक जबरदस्त साधन है।

२. किन्तु इस साधन का बहुत अधिक दुरुपयोग किया गया है। लोगों को सच्ची जानकारी और अच्छी सलाह देने के बदले जान-बूझकर झूठी, आधी सच्ची, आधी झूठी, अधूरी अथवा सच्ची जानकारी को ग़लत तरीके से पेश करके लोगों को ग़लत रास्ते ले जाने का काम समाचारापत्रों द्वारा व्यवस्थित रीति से किया जाता है।

३. विज्ञापनों द्वारा पैसा प्राप्त करने के लोभ के कारण समाचारपत्र अनेक प्रकार की झूठ और अनीति फैलाने के साधन बने हैं।

४. पढ़ने का शौक रखनेवाले व्यक्ति के पास फुरसत हो, और प्रत्यक्ष रूप में गपशप करने के लिए उसका कोई साथी न हो और इस कारण वह उकता उठे, तो इस तरह उसके उकताने में कोई हर्ज नहीं। कुछ देर उकताकर पड़े रहने के बाद वह कुछ न कुछ काम खोज़कर उसमें लग जायेगा; किन्तु फुरसत के समय को बिताने के लिए ही प्रकाशित समाचार-पत्र, मासिक अथवा कहानी की पुस्तक लेकर वह बैठ जाय, तो उससे उसे मनोरंजन का आभास होगा, वह अपना अधिक समय अप्रत्यक्ष गपशप में अर्थात् आलस्य में बितायेगा और बहुत संभव है कि अपने मन को हीन भावों से विचलित कर ले तथा कुसंस्कारों का पोषण करें। समाचार-पत्रों, मासिकों और उपन्यास की पुस्तकों के कारण अनेक युवक और युवतियाँ विकारवश होती और ग़लत रास्ते जाती पाई गई हैं। इस प्रकार के प्रकाशन जला देने योग्य ही माने जायँ।

५. जिसके मन में यह प्रतीति हुई हो कि उसे अपना अथवा अन्य किसीका कोई सच्चा, हितकारी और उपयोगी संदेश जनता तक पहुँचाना है, उसको पत्रकारिता के अथवा लेखन के व्यवसाय में पड़ना चाहिए। उसे आग्रहपूर्वक सत्य पर दृढ़ रहना चाहिए और अपने विरुद्ध पड़नेवाली सच्ची बातों और शिकायतों को भी प्रकाशित करना चाहिए और

शुद्ध भाव से अपनी भूलें भी स्वीकार करनी चाहिए। उसे विज्ञापनों से अपना खर्च निकालने के लोभ में नहीं पड़ना चाहिए; बल्कि अपनी उपयोगिता सिद्ध करके ऐसी स्थिति खड़ी करनी चाहिए कि जिस से लोकप्रियता के कारण ही पत्र का खर्च निकल सके। इसलिए उसे मुट्ठीभर लोगों की आवश्यकताओं का ही नहीं, बल्कि समस्त जनता अथवा आम लोगों की आवश्यकताओं और उनके मामलों की चर्चा करनेवाला बनना चाहिए।

६. कला

१. प्रकृति के सौंदर्य के सामने मनुष्य द्वारा निर्मित सब कलाओं का सौंदर्य नगण्य है। कला-रसिक के लिए आकाश और पृथ्वी का सौंदर्य आनंद की दृष्टि से पर्याप्त है। जो इस कला का स्वाद नहीं ले सकता, वह यदि मनुष्य-निर्मित कला का शौकीन माना जाता है, तो कहना चाहिए कि वह मोहक दृश्यों को ही कला समझनेवाला है। सच्ची कला का उसे कोई भान ही नहीं।

२. सच्ची कला उत्तम साहित्य की तरह विचारों को प्रस्तुत करने का साधन है; अतएव साहित्य की शैली के बारे में जो विचार बताये गये हैं, वे यथोचित रीति से कला को भी लागू होते हैं।

३. यह कहना कि कला का नीति, हितकारिता और उपयोगिता से कोई संबंध नहीं है, बल्कि केवल सौंदर्य से ही संबंध है, सौंदर्य तथा कला को न समझने के समान है। सत्य ही ऊँची से ऊँची कला और श्रेष्ठ सौंदर्य है ओर वह नीति, हितकारिता तथा उपयोगिता से रहित नहीं हो सकता।

४. अतएव कला मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी साधन-सामग्रियों में दीखनी चाहिए; और कला के कारण वे चीजें सुन्दर लगने के साथ ही अधिक अच्छी तरह काम देनेवाली होनी चाहिए।

५. जिस कला के मूल में प्राणियों के साथ जुल्म, हिंसा, हैरानी परेशानी आदि हों, उसमें प्रकट सौंदर्य कितना ही क्यों न हो, फिर भी वह कला कलि अथवा शैतान का ही दूसरा नाम है।

६. जो कला मनुष्य की हीन वृत्तियों को उत्तेजित करें और भोगों की इच्छा को बढ़ावे, वह कला अश्लील साहित्य के समान ही मानी जायेगी।

७. कोई चित्र देखकर मन में बीभत्स विचार ही आयें, तो उसे में कला नहीं कहूँगा। कला वह है जो मनुष्य को नीति में एक कदम आगे ले जाय, उसका आदर्श ऊँचा उठाये। जो उसकी नैतिकता को गिराये, वह कला नहीं बल्कि बीभत्सता है।

८. केवल शृंगार के लिए किया गया शृंगार शृंगार नहीं है; उसके पीछे उपयोगिता का तत्व होना ही चाहिए। उसी प्रकार उपयोगिता से भिन्न कलाकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। हाँ, उपयोग का अर्थ विशाल से विशालतर करना चाहिए।

९. सौंदर्य की कद्र होनी ही चाहिए। किंतु वह मूक हो तो अच्छा। वह 'तेन त्यक्तेन भुजीथा' के स्वरूपवाली हो। कहना होगा कि जिसे आकाश का सौंदर्य हर्षित नहीं करता, उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। किन्तु जो हर्ष-विभोर होकर नक्षत्र-मण्डल तक पहुँचने के लिए निसैनी लगाने का मनसूबा करे, वह मुर्च्छित है।

खण्ड तेरहवाँ: लोकसेवक

१. लोकसेवक के साधारण लक्षण

१. लोकसेवक वह माना जायेगा, जिसने जीविका-प्राप्ति के लिए कोई न कोई धंधा करना ही चाहिए इसलिए लोकसेवा का काम न अपनाया हो, बल्कि लोकसेवा करना ही जिस के मन की मुख्य अभिलाषा हो।

२. चूँकि वह अपना सारा समय जनता की सेवा में ही लगाता है, इसलिए यदि वह अपनी जीविका इसी काम के लिए स्थापित संस्था से ही प्राप्त करता है, तो उसमें कोई दोष नहीं; कार्य अच्छी तरह हो, इसके लिए ऐसे लोक सेवकों की आवश्यकता रहती ही है।

३. किंतु लोक सेवक का जीविका का पैमाना दूसरे सेवकों से भिन्न होगा। चूँकि वह अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की इच्छा से इस काम में प्रवृत्त नहीं हुआ है, इसलिए वह अपने वेतन में वृद्धि की अपेक्षा न रखें; और इस बात की यथासंभव चिंता रखे कि उस पर दूसरों के निर्वाह की जिम्मेदारी बढ़े नहीं। साथ ही उससे यह आशा रखी जा सकती है कि उसने कोई प्रत्यक्ष अथवा भावी आशाओं का त्याग किया है। वह थोड़ा बचाये रखने की इच्छा से अपना वेतन निश्चित न करें, बल्कि श्रद्धा रखे कि संकट के समय ईश्वर उसकी मदद करेगा ही।

४. जिसे अपने त्याग का अथवा लोक सेवक या आजीवन सेवक बनने का भान अथवा अभिमान. बराबर बना रहता है, वह लोक सेवक होते हुए भी अपनी पामरता का परिचय देता है।

५. लोक सेवक नम्रता की पराकाष्ठा दिखाये—'शून्य' बनकर रहे। यह दूसरे वैतनिक सेवकों अथवा अन्य व्यवसायों के अलावा सेवा का काम करनेवाले लोगों की तुलना में अपने को श्रेष्ठ न समझे और उनसे श्रेष्ठ बनकर रहने का प्रयत्न न करें।

६. लोक सेवक को अपनी किसी स्वार्थी महत्त्वाकांक्षा जैसे यश, अधिकार आदि की पूर्ति के लिए लोक सेवा के काम में नहीं पड़ना चाहिए; बल्कि धर्म की भाषा में कहें तो

लोक सेवा द्वारा ईश्वरोपासना करने की श्रद्धा से और व्यवहार की भाषा में कहें तो अपने देशकबन्धुओं को कुछ अधिक सुख के रास्ते ले चलने में स्वयं निमित्त बनने की इच्छा ने ही इस कार्य में पड़ना चाहिए।

७. अतएव यह आवश्यक है कि जनता का सेवक अपनी मिठास और नम्रता से जनता के और साथियों के मन जीत ले। अपने कार्यप्रदेश में जो भी सफलता मिली हो, उसका यश दूसरे साथियों को दे; और अपनी सेवा द्वारा ही उनका प्रीतिपात्र बने।

८. निस्वार्थी, नम्र, प्रामाणिक और चरित्रवान लोक सेवक जनता का प्रीतिपात्र न बना हो, ऐसा कोई अनुभव नहीं। उलटे, अनुभव यह है कि जिस पर विश्वास बैठ चुका है, वह लोक सेवक अपने कार्यक्षेत्र में लगभग एकाधिकारिता का उपभोग करता है और जनता उसकी हर बात को मानती हैं। वह किसीका अप्रीति-पात्र अथवा ईर्षा-पात्र नहीं बनता और न किसीको त्रासदायक मालूम होता है।

९. जिस सेवक को बार-बार यह लगता हो कि जनता अथवा दूसरे साथी या मुखिया अथवा लोक सेवक मंड़ल से बाहर के कार्यकर्ता कृतघ्न हैं अथवा कार्य में बाधारूप हैं, निश्चित रूप से मानना चाहिए कि उस स्वयंसेवक में ही कोई भारी दोष है; क्यों कि अनुभव यह है कि आम तौर पर जनता कृतज्ञ ही नहीं, बहुत उदारतापूर्वक लोक सेवक की कद्र करनेवाली होती है।

१०. जनता के सेवक में नीचे लिखे गुण होने चाहिए :

(क) वह धार्मिक वृत्तिवाला होना चाहिए। मतलब यह कि सत्याग्रह, सत्कर्म, सद्वाणी और सद्व्यवहार में उसकी पूरी निष्ठा होनी चाहिए। इसके लिए उसमें लगन, दोषों के लिए परिताप और ऐसी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि इसीमें स्वयं उनका और जनता का कल्याण है।

(ख) उसका चरित्र इतना विशुद्ध होना चाहिए कि स्त्रियाँ उसके पास निर्भयतापूर्वक जा सकें और जनता को भी उसे स्त्रियों के पास जाने देने में संकोच का अनुभव न हो।

(ग) उसका आर्थिक व्यवहार बिलकुल साफ होना चाहिए। कुछ लोग बड़ी रकमों में प्रामाणिक होते हैं, किंतु 'सूई के चोर' होते हैं। कुछ पाई का हिसाब सही सही देते है और बड़ी रकमों के व्यवहार में घोटाला करनेवाले होते हैं। लोक सेवक को इन दोनों आक्षेपों से परे रहना चाहिए और अपने हाथ में आई पाई-पाई का हिसाब चौकस रखना चाहिए।

(घ) उसे हमेशा उद्योग,परायण होना चाहिए। जो सेवक गपशपमें, निकम्मी बातों में, चौक-बाजार में समय नष्ट करता पाया जाता है, उसे कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। उसकी उद्योग-परायणता जनता के लिए उदाहरण-स्वरूप होनी चाहिए।

(च) उसमें समय-पालन का गुण अवश्य होना चाहिए। जिस काम के लिए जो समय ठहराया गया हो, उसमें चूक नहीं होनी चाहिए।

(छ) इसका अर्थ यह हुआ कि उसे भलीभांति नियम पालन करनेवाला होना चाहिए। सुबह से रात तक की उसकी दिनचर्या घड़ी की तरह ठीक क्रम से चलनी चाहिए।

(ज) इसके अलावा, उसे अपनी संस्था के सिद्धांतों और नियमों का लगन के साथ पालन करना चाहिए और अपने अधिकारी की आज्ञा को भली-भांति मानना चाहिए। जो आज्ञा-पालन नहीं करता, वह कभी आज्ञा पलवाने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता।

(झ) जनता के सेवक को अपने देह-गेह की चिंता ईश्वर को सौंप कर निर्भयता प्राप्त करनी चाहिए। जनता की सेवा के लिए अपने धन, प्राण, परिवार, सुख-सुविधा, स्वतंत्रता आदि का त्याग करने की पहली जिम्मेदारी उसे अपने सिर लेनी चाहिए। और जब आवश्यकता आ पड़े, तो भारी खतरा उठाकर भी जनता के काम में कूद पड़ना चाहिए।

(ट) उसे स्वयं अतिशय स्वच्छ रहना चाहिए; फिर भी अस्वच्छ लोगों के साथ मिलने-जुलने में और अस्वच्छता मिटाने का काम करने में उसे घृणा का अनुभव नहीं होना चाहिए।

(ठ) उसे डायरी लिखने की आदत रखनी चाहिए और उसमें अपना दैनिक कार्य बराबर लिखना चाहिए।

(ड) ईश्वर-स्मरण से दिन का आरंभ करके जो रात को दिनभर के अपने कार्य पर दृष्टि डालता है और उस पर मनन करके रात ईश्वर-स्मरणपूर्वक सोता है, वह लोक सेवक जनता की सेवा करता हुआ श्रेय को ही प्राप्त करता है।

(ढ) ऐसे सेवक को विचार करने पर पता चलेगा कि जनता की सेवा करनेवाले को ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना चाहिए, और जिस क्षण से उसे इसकी प्रतीति हो उस क्षण से ब्रह्मचर्य की दिशा में उसे प्रयत्नशील हो जाना चाहिए।

२. ग्रामसेवक के कर्तव्य[१]

१. ग्रामसेवक का पहला धर्म है ग्रामवासियों को स्वच्छता की शिक्षा देना। इस शिक्षा में व्याख्यान और पत्रिका का स्थान कम है। मतलब यह कि ऐसी शिक्षा प्रत्यक्ष कार्य द्वारा ही दी जा सकती है। इस प्रकार कार्य करते हुए भी धीरज की आवश्यकता तो रहेगी ही। यह मानना ठीक नहीं कि ग्रामसेवक की दो दिन की सेवा को देखकर लोग अपने-आप काम करने लगेंगे।

२. ग्राममेवक को चाहिए कि ग्रामवासियों को इकट्ठा करके पहले उन्हें उनका धर्म समझाये। बाद में गाँव में से ही कुदाली, फावड़ा, टोकनी अथवा बालटी और झाडू आदि चीजें इकट्ठा करके उसे सफाई का काम शुरू कर देना चाहिए।

३. रास्तों की जाँच करके पहले मैले को फावड़े की मदद से टोकनी में इकट्ठा करना और मैलेवाले स्थान को धूल या मिट्टी से ढंक देना चाहिए। जहाँ पेशाब हो वहाँ भी फावड़े की मदद से ऊपर की गीली धूल उसी टोकनी में भर लेनी चाहिए और बाद में उस जगह आसपास की साफ धूल फैला देनी चाहिए।

४. मैला किसान के लिए सोना है। उसे खेत में डालने से उसकी बढ़िया खाद बनती है और फसल बहुत अच्छी पकती है। इसलिए किसान को समझाकर जहाँ तक संभव हो किसी के खेत में लगभग नो इंच गहरा गड्ढा खोदकर उसमें मैला गाड़ना चाहिए; इससे ज्यादा गहरी जमीन में गाड़ना ठीक नहीं। मैले को गाड़ने के बाद गड्ढा मिट्टी से भर देना चाहिए |

५. मैले की व्यवस्था करने के बाद उसे कचरे की व्यवस्था करनी चाहिए। कचरा दो प्रकार का होता है: (१) खाद के लायक; जैसे, गोबर, पेशाब, साग-सब्जी के डंठल, जूठन आदि; (२) लकड़ी, पत्थर, पतरे, चीथड़े आदि।

६. खाद के लायक कचरा अलग से इकट्ठा करके मैले की ही तरह, लेकिन अलग गड्डे में गाड़ना चाहिए अथवा घूरेवाली जगह पर डालना चाहिए।

७. दूसरा कचरा बन्द करने लायक गड्ढों में डालना चाहिए और जब गड्ढा भर जाय, तो उस पर मिट्टी बिछाकर उस जगह को समतल बना देना चाहिए। इस प्रकार के कचरे में से भी डंठल, दतौन की चीरें आदि धोकर और सुखाकर ईंधन के रूप में बरती जा सकती हैं और चीथड़े बेचे जा सकते हैं।

८. ऊपर (आरोग्यवाले खंड में) यह सुझाया गया है कि घूरेवाली जगह पर सस्ते पाखाने बनाने चाहिए। जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था हो वहाँ जब तक इस तरह इकट्ठे किये गये मैल को अपने-अपने हिस्से के अनुसार बाँट लेना किसान सीखें नहीं, तब तक रास्तों की तरह ही घूरों को साफ करने का काम भी ग्रामसेवक को ही करना चाहिए।

९. गाँव के रास्तों को पक्का और अच्छा बनाने के उपाय करने का काम ग्रामसेवक का है। स्थानीय परिस्थिति के अनुसार ये उपाय अलग-अलग हो सकते हैं। शायद गाँव के बड़े-बूढ़े इसके बारे में सलाह दे सकते हैं।

१०. सफाई के काम से फुरसत पाने के बाद ग्रामसेवक को आवश्यक औजार और साधन लेकर गाँव में चलनेवाले चरखों, पींजनों और ओटनियों आदि की जाँच-पड़ताल के लिए निकल पड़ना चाहिए। जहाँ दुरुस्ती आदि की ज़रूरत मालूम हो, वहाँ दुरुस्ती कर देनी और करना सिखा देनी चाहिए। नौसिखुओं के काम की-जाँच करके उन्हें आवश्यक सूचनाएँ देनी चाहिए। नये-नये सीखना चाहनेवालों को अलग समय देकर सिखाना चाहिए। आम तौर पर गाँव में जिस समय ये काम चलते हो, उसी समय जाँच के लिए निकलना चाहिए।

११. यदि सूत, बुनाई अथवा दूसरे उद्योगों की व्यवस्था ग्रामसेवक के द्वारा ही होती हो, तो उसे इन कामों के लिए समय निश्चित करके लोगों को उसी समय आने की आदत डालनी चाहिए और उस बीच माल की जाँच करके उसमें करने योग्य सुधारों के बारे में सूचनाएँ देनी चाहिए।

१२. ग्रामसेवक को चाहिए कि वह दिन में कम-से-कम एक बार, जब लोगों की अनुकूलता हो तब उन्हें इकट्ठा करके सामूहिक प्रार्थना करें। प्रार्थना उसी भाषा में होनी

चाहिए, जिसे लोग समझते हों। इष्ट यह है कि ग्रामसेवक को संगीत का ठीक ज्ञान हो; यदि उसे वैसा ज्ञान न हो तो गाँव में जो अच्छा गा सकते हों, उनसे भजन, धुन आदि गवाना चाहिए और दूसरों को उसमें सम्मिलित करना चाहिए। बहु तेरे गाँवों में भजन-मंड़लियाँ होती हैं; उन्हें नये और अच्छे भजन सिखाकर प्रार्थना में उनका उपयोग करना चाहिए।

१३. प्रार्थना के बाद लोगों को समाचार-पत्रों की उपयोगी खबरें, अच्छे लेख, पुस्तकें, धार्मिक ग्रंथ अथवा कथाएँ कहनी या पढ़कर सुनानी चाहिए।

१४. ग्रामसेवक को नीचे लिखी सूचनायें ध्यान में रखनी चाहिए :

(क) यदि गाँव में पक्ष हों, तो उसे किसी भी पक्ष में सम्मिलित नहीं होना चाहिए; बल्कि तटस्थ रहकर समान भाव से सबकी सेवा करनी चाहिए और सबके साथ बराबरी की मित्रता रखनी चाहिए तथा अपने प्रभाव से यदि कुछ हो सकता हो, तो पक्ष मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(ख) आम तौर पर जहाँ मिष्टान्न आदि बननेवाले हों, वहाँ भोजन का आमंत्रण स्वीकार नहीं करना चाहिए। ग्रामवासी ग्रामसेवकों के प्रति अपनी ममता का परिचय देने के लिए भिन्न-भिन्न निमित्त खड़े करके उन्हें भोजन के लिए बुलाते हैं और लोगों के मन न दुःखाने की भावना से ग्रामसेवक ऐसे न्योते स्वीकार करने लगते हैं। पर इसके कारण कई ग्रामसेवक स्वाद-लोलुप बन जाते हैं और ऐसे घरों की खोज़ में रहते हैं तथा खुद होकर मिष्टान्न खाने के निमंत्रण माँगने में भी संकोच नहीं करते। ग्रामसेवक को याद रखना चाहिए कि सम्पन्न माने जानेवाले ग्रामवासी भी इस प्रकार के खर्च अपनी हैसियत से बाहर जाकर करते हैं। ग्रामवासियों पर मेहमानों का खर्च ही इतना अधिक होता है कि मेहमानों को सादा भोजन ही कराने की प्रथा शुरू करने की बात ग्रामवासियों को सिखाना ज़रूरी है। इस कारण ग्रामसेवक को मिष्टान्न खाने के निमंत्रण स्वीकार न करने का और स्वीकार करने ही पड़े तो स्वयं साधारणत : मिष्टान्न खाता हो तो भी ऐसे अवसरों पर उसे सादा आहार करने का ही आग्रह रखना चाहिए और मिष्टान्न का त्याग करना चाहिए।

(ग) ग्रामसेवक को अपनी खाने-पीने की आदतें बहुत ही सादी रखनी चाहिए, जिससे ग़रीब से ग़रीब घर को भी उसकी सुविधा के लिए दौड़-भाग अथवा विशेष तैयारी न करनी पड़े।

(घ) ग्रामसेवक को संयमी और तप तथा व्रत से युक्त जीवन बिताना चाहिए। परन्तु जिसे ग्रामसेवा करनी है, उसे अपने व्रत गाँव की परिस्थिति का विचार करके निश्चित करने चाहिए; नहीं तो व्रत भी निरकुंश बन जाय और ग्रामवासियों के लिए परेशानी के कारण बने। उदाहरण के लिए, कोई ग्रामसेवक गुड़-शक्कर छोड़े और दूध में शहद माँगे, चाय छोड़े और कॉफी की अथवा मसालेवाले काढ़े की अपेक्षा रखे, तो ऐसे व्रत ऊपर कहे अनुसार दोषपात्र होंगे।

---

१. 'गाँवों की मदद में' नामक लेखमाला के आधार पर।

खण्ड चौदहवाँ: संस्थाएँ

१. संस्था की सफलता

१. किसी भी संस्था की सफलता नीचे लिखी शर्तों पर निर्भर करती है:

(क) संस्था के उद्देश्क के प्रति अत्यन्त प्रामाणिक निष्ठा और उसकी सिद्धि के लिए उत्साह |

(ख) संस्था के नियमों का स्थूल पालन ही नहीं, बल्कि उनकी भावना का भी पालन।

ग) संस्था के संचाल को, सदस्यों, सेवकों आदि कार्यकर्ताओं में भ्रातृभाव और एकरसता।

२. इन तीन में से एकाध शर्त भी न पाली जाती हो, तो दूसरी सब अनुकूलताओं के रहते हुए भी संस्था प्राणवान नहीं बनेगी।

२. संस्था का संचालक

१. कहा जा सकता है कि संस्था का संचालक संस्था का प्राण है।

२. संस्था के उद्देश्य के प्रति उसकी निष्ठा और लगन, उसका नियम-पालन, दूसरे सदस्यों के साथ उसका व्यवहार, उसकी उद्योग-परायणता, इन सब पर संस्था की सफलता का बहुत कुछ आधार रहता है।

३. यदि संचालक को अपने अधिकार का गर्व हो, अथवा संस्था के दूसरे सदस्यों के प्रति अनादर या अरुचि बनी रहती हो, तो यह संस्था के लिए हानिकारक हो सकता है।

४. जिस प्रकार उत्तम सेनापति नियमों का पालन कराने में बहुत चुस्त और कठोर होता है, फिर भी वह अपने सैनिकों का प्रेम प्राप्त करनेकी चिंता रखता है और अपने सैनिकों के लिए अभिमान का अनुभव करता है, उसी तरह संस्था के संचालक का भी होना चाहिए।

५. संचालक की दृष्टि संस्था की छोटी-से-छोटी बातों पर भी पड़नी चाहिए। उसे संस्था में रहनेवाले मनुष्यों और प्राणियों के सुख-दुःख की वैसी ही चिंता रखनी चाहिए, जैसी माता बालक की रखती है।

६. प्रसंगानुसार संचालक अपने अधिकार का उपयोग करें, फिर भी अपने मन में तो वह अपने अधीन काम करनेवाले लोगों को अपनी बराबरी का अथवा अपना साथी ही माने; और छोटे-से-छोटे आदमी को भी अपना मित्र ही समझे। वह यह माने कि उसका संचालक-पद उसकी अपनी विशेष योग्यता के कारण नहीं, बल्कि साथियों के उसके प्रति रहे पक्षपात और आदर के कारण ही है।

७. अतएव वह छोटे-से-छोटे आदमी के सुझाव को भी सम्मान-पूर्वक सुनेगा, उसके उचित होने पर उसे स्वीकार करने को तैयार रहेगा, तथा उसके अनुचित प्रतीत होने पर उसे उसका अनौचित्य समझाने का प्रयत्न करेगा।

८. संचालक कच्चे कान का न हो। किसीके बारे में उतावली में प्रतिकूल राय न बनाये, बल्कि प्रतिकूल राय बनाने में दीर्घसूत्रता से काम ले और स्पष्ट प्रमाण के अभावमें प्रतिकूल राय न बनाये।

९. अपने अधीस्थ लोगों में से संचालक किसीको विशेष प्रीतिपात्र न बनाये; किसीके साथ पक्षपात न करें; और एक को हलका दिखाने के लिए दूसरे की प्रशंसा न करें।

१०. नियमों का ठीक-ठीक पालन कराने के लिए व्यवहार अथवा वाणी में कठोरता लाने की अथवा दंड करने की आवश्यकता नहीं। इसकी आवश्यकता समझनेवाला संचालक अपनी योग्यता की कमी प्रकट करता है।

३. संस्था के सदस्य

१. जिस संस्था के सदस्यों में परस्पर भ्रातृभाव और आदर नहीं रहता, वह संस्था लम्बे समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें फूट और भेद पड़ेंगे; और उसके सदस्य संस्था के मूल उद्देश्य को भूलाकर एक-दूसरे के साथ कलह करने में ही लगे रहेंगे।

२. जिस संस्था के सदस्य अपने अधिकारी की आज्ञा का पालन सहर्ष करने को तैयार नहीं रहते, वह संस्था लम्बे समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें आलस्य और ढिलाई आ जायेगी और सदस्य प्रमादवश हो जायेंगे।

३. संचालक और सदस्यों के बीच केवल स्थूल ही नहीं, बल्कि मानसिक सहयोग भी होना चाहिए। तात्पर्य यह कि सदस्य संचालक की इच्छा अथवा आज्ञा के अधीन रहें, इतना ही पर्याप्त नहीं; किन्तु यदि वे उस इच्छा अथवा आज्ञा के औचित्य को स्वीकार करते हों, तो उन्हें इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, मानो उन्होंने खुद ही अपने मन से उसकाम को करने का निश्चय किया हो।

४. जिस नियम अथवा आज्ञा के औचित्य के विषय में सदस्यों को विश्वास न हो, उसके बारे में उन्हें संचालक से स्पष्टता कर लेनी चाहिए; और जब तक विश्वास न हो जाय, तब तक विश्वास होने की छाप संचालक के मन पर नहीं पड़ने देनी चाहिए।

५. यदि ऐसा कोई नियम अथवा आज्ञा सत्य या धर्म के विरुद्ध प्रतीत न होती हो, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से ही अनुचित मालूम होती हो, तो उसके औचित्य का विश्वास न होने पर भी उसका पालन करना चाहिए, और यदि वह सत्य अथवा धर्म के विरुद्ध प्रतीत हो, तो संस्था छोड़ने तक की तैयारी रखनी चाहिए।

६. यदि नियम अथवा आज्ञा सत्य या धर्म के विरुद्ध न हो, किन्तु उसका पालन अपनी कमजोरी के कारण कठिन मालूम होता हो, तो इष्ट यही है कि सदस्य संस्था के उत्कर्ष के हित में संस्था छोड़ दें।

७. सदस्यों में परस्पर मतभेद हो, किसी सदस्य के व्यवहार के बारेमें शंका उत्पन्न हो अथवा उससे खुद को असन्तोष या दुःख हुआ हो किसी के हेतु के बारेमें अपने मन में सन्देह उत्पन्न हुआ हो, तो ऐसे प्रत्येक प्रसंग में सम्बन्धित व्यक्ति के साथ ही सबसे पहले बातचीत करके स्पष्टता कर लेनी चाहिए। यदि इससे स्पष्टता न हो और उसके सम्बन्ध की अपनी राय कायम रहे अथवा अधिक दृढ़ हो, तो उसके अथवा अपने निकट के अधिकारी को इसकी जानकारी देनी चाहिए और योग्य कार्यवाही करने का काम उस पर छोड़ देना चाहिए।

८. सम्बन्धित व्यक्ति के साथ स्पष्टता करने का प्रयत्न किये बिना इस विषय में अधिकारी अथवा दूसरों के साथ बात करना या निकट के अधिकारी को सूचित किये बिना एकदम वरिष्ठ अधिफारी के सामने बात ले जाना दोषपूर्ण है।

९. अपने मन में दूसरे के विषय में ऊपर लिखें अनुसार कोई दोष घर कर गया हो, तो उसके बारेमें तत्परतापूर्वक स्पष्टता कर लेने के बदले उसे मन में बनाये रखना और अधिकारी को जताने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाने पर भी न जताना संस्था में गंदगी जमा करने के समान है |

१०. जिस संस्था में सदस्यों के दोषों की अन्दर-अन्दर कुत्सित चर्चा होती रहती हो, फिर भी बात अधिकारियों तक न पहुँचती हो, और जिसके सम्बन्ध की चर्चा हो उसके साथ भी स्पष्टता न की जाती हो तो वह संस्था तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें पाप, दंभ, असत्य और झूठी लज्जा प्रवेश करके उसे निष्प्राण बना देंगे।

४. संस्था का आर्थिक व्यवहार

१. पैसे के अभाव में कोई सच्चे काम रुकते पाये नहीं गये।

२. निधि एकत्र करके उसके ब्याज से खर्च चलाने की वृत्ति इष्ट नहीं। संस्था के संचालकों में यह दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि जो संस्था जनता के लिए उपयोगी है, उसके निर्वाह के लिए धन मिल ही जायेगा।

३. जब तक जनता को संस्था की उपयोगिता का विश्वास न हो जाय, तब तक संचालकों को अवश्य हीं अधिक मेहनत करनी होगी; किन्तु वह मेहनत तपस्या और सेवा का ही अंग मानी जायेगी।

४. बाद में तो इतनी मदद मिलने लगती है कि कई संस्थाओं की निष्प्राणता का कारण उनके पास का निधि-संचय ही होता है। इसलिए आदर्श संस्था को निधि एकत्र करने के मोह में पड़ना ही न चाहिए।

५. आम तौर पर यह पाया जाता है कि सार्वजनिक धन पर चलनेवाली संस्थाओं में किफायत पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। यह बड़ा दोष है। हिनुस्तान के समान ग़रीब देश की सेवा करनेवाली संस्थाएँ बहुत ही कमखर्ची के साथ चलनी चाहिए।

६. संस्था के हिसाब साफ रखने की तरफ विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। महाजनी पद्धति से पाई-पाई का हिसाब लिखा जाना चाहिए और प्रमाणभूत हिसाब-निरीक्षकों द्वारा उसकी जाँच करानी चाहिए।

* * *

मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी सत्पुरुष के विचारों को केवल उसकी पुस्तकों का अध्ययन करके संपूर्ण रूप से जाना या - समझा नहीं जा सकता। इसके लिए उसका सहवास आवश्यक हैं। किन्तु सहवास के साथ-साथ उसके हृदय को समझने का और उसकी समग्र-विचारसरणी के मूल आधार को पकड़ने का प्रयत्न होना चाहिए। यदि यह आधार हाथ लग जाय, तो फिर उसकी सम्पूर्ण विचार-सृष्टि--रेखा-गणित में एक सिद्धान्त से दूसरे सिद्धांत निकलते हैं--उसी प्रकार समझ में आ सकतीं है। गांधीजी को समझने का मेरा प्रयत्न इसी प्रकार का है।

(प्रस्तावनामें से) **कि० घ० मशरूवाला**